संपादक
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

वर्ष 22, अंक 1
जनवरी, 2008

वर्ष 22 अंक 1 जनवरी, 2008

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
3. **अशोक वाजपेयी,** सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ,** ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 100/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा के. बी. एस. प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

अनुक्रमणिका

1.	मानव-सत्ता और ज्ञान-विमर्श	गोविन्दचन्द्र पांडे	1
2.	संस्कृति, विज्ञान और दर्शन	यशदेव शल्य	25
3.	संगीत का भावलोक (एक विचार-यात्रा)	मुकुन्द लाठ	37
4.	अथ प्रमाणसंख्या परीक्ष्यते	आनन्द मिश्र	63
5.	न्यायवैशेषिकपरम्परा और देहात्मवाद	सच्चिदानन्द मिश्र	77
6.	दयाजी का स्मरण	राजेन्द्र स्वरूप भटनागर	89

विचार-विमर्श

1.	साधारणीकरण की अवधारणा पर आगे कुछ और विचार	यशदेव शल्य	101
2.	'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' की समीक्षा से सम्बद्ध आक्षेप-समाधान	नारायण शास्त्री द्राविड़	105

पुस्तक-समीक्षा

1.	समाज : दार्शनिक परिशीलन ले. यशदेव शल्य	राजेन्द्र प्रसाद पांडेय	108
2.	एंसेस्ट्रल वायसेज़ ले. रमेशचन्द्र शाह	राधावल्लभ त्रिपाठी	119

मानव-सत्ता : ज्ञान-विमर्श

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

द्वैतं संलक्ष्यते ज्ञाने संवित्तेराकृतेस्तथा।
अनित्ये विषये ज्ञानं नित्यसाक्षीति यत् स्थितम्।।1।।

अर्थक्रियाविसंवादिविकल्पो ज्ञानमुच्यते।
पदवाक्यप्रमाणानि क्रियासाराणि तत्त्वत:।।2।।

क्षण एव क्रियाशक्ति: सन्तान उपचर्यते।
सन्तान: समनस्कानाम् इन्द्रियाणां हि गोचर:।।3।।

अनादि वासना मूला: युज्यन्ते तत्र कल्पना:।
ता एव तर्कशास्त्रेषु पदार्था इति निश्चिता:।।4।।

व्यावहारिकसत्यत्वं तेषु कर्मसमर्थितम्।
प्रसंगव्याहता सर्वे न तेषां परमार्थता।।5।।

अप्रतिष्ठा हि तर्काणां विरोधिद्वन्द्वभावत:।
अतीन्द्रियविषयेषु, न समीहार्थसाधने।।6।।

श्रेयोरूपा: पुमर्थाश्च सदात्मप्रतिभासिन:।
धर्मसौन्दर्यमोक्षाणां बुद्धय: प्रतिभोद्गता:।।7।।

प्रत्यगात्मन ईशस्य भानं स्याद् अनुपायत:।
परोक्षं सम्पदायेन प्रत्यया: युक्तयस्तथा,
संगतिश्चापि स्वस्व साध्यानुसारत:।।8।।

असंग बुद्धि साध्येतु भोग्याभावान्न तत्तथा।
एवं भूमिविभेदेन ज्ञानम् च द्विविधम् भवेत्।।9।।

ज्ञानं देहिनि चित्ते च जीवात्म परमात्मनो:।
चतुर्षु प्रथते नित्यं सोपानाहोरणम् यथा।।10।।

स्व संवेदनत: सिद्धि: चित्तस्यात्मन एव च।
विमुक्तात्मन ईशस्य सिद्धि: योगजया धिया।।11।।

अनुमानादियुक्त्यापि तेषां साधनमिष्यते।
सचेतोभिरितरेषाम् तु तत् संभावनमेव हि।।12।।

ईक्षापूर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयमेव तदाविशत्।
जाड्याण्डकवचं भित्वा क्रमेणाविर्भविष्यति।।13।।

सत्ता सैव चितिः सैव स्वातन्त्र्ये या प्रतिष्ठिता।
सृष्टेरादौ तथा चान्ते चैतन्ये प्रभवाप्ययौ।।14।।

क्षणे क्षणे हि चित्तानि यत आविर्भवन्ति तत्।
अहं स्फूर्त्यास्पदं नित्यं चैतन्यम् परमम् पदम्।।15।।

इसके पूर्व के लेख में यह बात उभर कर सामने आयी थी कि ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय और प्रमाण एवं प्रामाण्य, इन सभी पदों में एक द्वैत अन्तर्निहित है। ज्ञान जैविक व्यवहार का आयाम भी है और बोध की वृत्ति भी। ज्ञाता या प्रमाता देहाभिमानी प्राणी भी है और चेतन विषयी भी है। ज्ञेय ज्ञानजनक बाह्य अर्थ भी है और बोध का विषय भी। प्रमाण या सम्यक् ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ भी हैं और इन्द्रिय-सम्वेदन भी। ज्ञान की सम्यक्ता या प्रामाण्य ज्ञान की सफल प्रवृत्तिजनकता या यथार्थता हो सकती है। व्यवहार *दैहिक* क्रियाकलाप के रूप में ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें ऐसी स्वगत विशेषता नहीं है जो उसे अन्य अचेतन भौतिक क्रियाओं से अलग कर सके। उसे जो ज्ञान कहते हैं वे उसकी प्रयोजनवत्ता और युक्तिमत्ता पर ध्यान देकर ही वैसा कहते हैं। किन्तु प्रयोजनवती और सयुक्तिक क्रिया को चेतन से जोड़े बिना ज्ञान नहीं कहा जा सकता। ज्ञानवान् मनुष्य की बनायी हुई मशीनी क्रिया में प्रयोजन और युक्ति दिखायी देती है, किन्तु मशीन का अपना कोई ज्ञान नहीं होता। मानव-संयंत्र में बोध और क्रिया का योग और स्वातन्त्र्य होता है। इन दोनों कारणों से वह यंत्र मात्र नहीं है और न उसका ज्ञान उसकी देहगत क्रियाओं में परिसमाप्त हो सकता है। अतः ज्ञान को एक विशिष्ट प्रकार का दैहिक क्रियाकलाप मानना एक बहुत ही अधूरा सत्य है।

ज्ञान बोधवृत्ति है यह विश्वजनीन अनुभव से सिद्ध है, किन्तु अभौतिक होने पर यह बोध क्या है? और उसकी सत्ता क्या देह के अतिरिक्त सम्भव है? यह प्रश्न दुस्समाधेय है। बोध का स्वरूप बताना एक प्रकार से कठिन नहीं है, क्योंकि वह निरन्तर अनुभवगोचर है। बोध में स्वप्रकाशता रहती है, *परप्रकाशकता* रहती है, विषय-विषयि-सम्बन्ध रहता है, प्रवाहशीलता रहती है और उसके साथ ही *अनपायिता* रहती है, और प्रकाश के साथ उसमें विमर्श रहता है, उसमें विषय की प्रदत्तवत् प्रस्तुति रहती है और अप्रदत्त कल्पना भी रहती है, स्वसंवेदन के साथ उसमें पर-सम्प्रेषणीयता भी मिलती है। उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि संदेह और निषेध दोनों ही बोधपूर्वक होते हैं। किन्तु उसके अनुभूति-सिद्ध होने पर भी जिज्ञासा बनी रहती है कि क्या बोध सत्ता से युक्त द्रव्य है? या किसी सत्तावान् द्रव्य का गुण या

क्रिया है? स्पष्ट ही बोध इन्द्रियगोचर या भौतिक अर्थ नहीं है। उसमें एक ओर गुण, क्रिया और सम्बन्ध देखे जाते हैं किन्तु दूसरी ओर वह इन सब धर्मों का विषयी होने से इनसे भिन्न भी सिद्ध होता है। जहाँ तक सत्ता का प्रश्न है, बोध में कालिकता और अकालिकता दोनों ही विरोधी आयाम एक साथ लक्षित होते हैं। बोध देशगत नहीं होता और वृत्ति रूप से कालगत होने पर भी वह साक्षी रूप से कालगत नहीं होता। इस विरोध के परिहार के लिए सांख्य दर्शन ने यह प्रसिद्ध कल्पना की है कि बोध में साक्षि-चैतन्य और चित्तवृत्ति का कथंचित् तादात्म्य होता है। अन्य अनेक दर्शनों में भी प्रकारान्तर से यह द्वैत मिलता है। किन्तु कुछ में ज्ञान मुख्यतया नित्य चैतन्य बन जाता है, कुछ में वह आत्मरूप द्रव्य का चित्त-सापेक्ष या देह-सापेक्ष गुण बन जाता है, कुछ में वह अन्ततः चित्तप्रवाह ही बन जाता है, जिसमें द्रव्य-रूप आत्मा की भ्रान्ति होती है।

जिस रूप में ज्ञान का सामान्यतया पता चलता है वह है—'मैं जानता हूँ कि...', 'मुझे ज्ञात है', 'मैं हूँ'। ज्ञान के इन रूपों में यह निश्चय नहीं दिया होता कि 'मैं देह ही हूँ अथवा देह नहीं हूँ'। न उनमें यह निश्चय दिया होता है कि मैं अपने से भिन्न विषय के अतिरिक्त कुछ नहीं जान सकता। अर्थात् ज्ञान की सामान्य प्रतीति में ज्ञाता और देह का सम्बन्ध अनिर्णीत रहता है और ऐसे ही ज्ञान और देह का सम्बन्ध अन्वय-व्यतिरेक से भी अनिर्णीत रहता है। प्रायः जब ज्ञान होता है तब ज्ञाता का देह से सम्बन्ध पता चलता है। जैसे, जब ज्ञान होता है उससे भिन्न ज्ञेय का भी पता चलता है, किन्तु वह देह अथवा ज्ञेय के अभाव में ज्ञान हो सकता है कि नहीं यह निश्चित नहीं हो पाता, क्योंकि ज्ञान के साधारणतया विदित दृष्टान्त ज्ञान के अशेष रूपों और घटनाओं को निदर्शित करते हैं यह निश्चित नहीं किया जा सकता।

देह और विषय के अभाव में ज्ञान का उदाहरण ईश्वरीय ज्ञान सुप्रसिद्ध है। ईश्वरीय ज्ञान को सभी धर्म और आस्तिक दर्शन भौतिक देह से स्वतन्त्र मानते हैं। यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो अभौतिक ज्ञातृत्व भी सिद्ध हो जाता है और वह ईश्वरीय ज्ञान निरपेक्ष-ज्ञान होगा। ईश्वर की सर्वज्ञता से यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञाता स्वतः अकालिक होते हुए भी त्रिकाल का ज्ञाता हो सकता है। किन्तु यह निश्चित नहीं होता कि ईश्वरीय ज्ञान क्या अपने से स्वतन्त्र ज्ञेय की पूर्वापेक्षा करता है? मरणोपरान्त देह के बिना जीव भी ज्ञान में समर्थ होते हैं ऐसा बहुत से आस्तिकों का दावा है। यहाँ भी विषय के अभाव में ज्ञान हो सकता है यह सिद्ध नहीं होता। किन्तु कुछ योगी यह मानते हैं कि ऐसी सामाधिक अवस्था होती है जिसमें ज्ञान विषय-शून्य होता है। स्वप्न की अवस्था में ज्ञाता जागृत देह का अभिमानी नहीं होता है, किन्तु उसका ज्ञान तात्कालिक रूप से यथार्थ प्रतीत होता है। जागृत अवस्था की भ्रान्तियों से स्वप्न में यह विशेषता है

कि उसमें द्रष्टा अपने विषय में भ्रान्त होता है और वह एक सम्पूर्ण और व्यापक भ्रान्ति के अन्तर्गत होता है। जागृत अवस्था में अनुभवों की देहाधीनता अपनी उत्पत्ति के विषय में होती है किन्तु उसका प्रकार विषय-नियत होता है। स्वप्न में भी ज्ञान देह की सूक्ष्म क्रियाओं से सहचरित होता है, किन्तु उसके विषय उससे भिन्न या स्वाधीन नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि यह उदाहरण जहाँ एक ओर यह सिद्ध करता है कि वास्तविक विषय के अभाव में भी ज्ञान सम्भव है, वहीं वह यह भी सिद्ध करता है कि वह ज्ञान भ्रान्तिरूप होगा, जबकि सत्य ज्ञान वास्तविक विषय की अपेक्षा करता है और विषय की वास्तविकता ज्ञान से स्वतन्त्र होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्ति से स्वतन्त्र होता है, किन्तु यह उक्ति तभी सही होगी जब यह माना जाये कि तथाकथित अभ्रान्त अनुभव ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु-सत्ता का यथार्थ अनुभव है। किन्तु यह एक मान्यता मात्र है। यदि प्रामाण्य का लक्षण ही अविसंवादिता किया जाये और वास्तविकता का लक्षण यथाकथंचित् ज्ञान की नियामकता, न कि ज्ञान से स्वतन्त्रता अथवा ज्ञान-भिन्न-स्वभावता, तो यह असिद्ध हो जायेगा कि प्रमा और भ्रम का भेद प्रमा के स्थलों में ज्ञान में अपने से भिन्न वस्तु-सत्ता की पूर्वापेक्षा होता है। चन्द्रमा की सामान्य रूप से चमकती प्रतीति और द्विचन्द्र की प्रतीति, दोनों में अयथार्थता समान है, किन्तु एक विसंवादी है, दूसरी नहीं। 'वस्तुतंत्रं भवेत ज्ञानं' में वस्तु का अर्थ नियामक विषय ही करना चाहिए । और इस दृष्टि से *'चित्तमात्रं त्र्यधतुकं, दृश्यत्वात् स्वप्नवत्'* इस प्रतिपत्ति में दृष्टान्त सदोष नहीं कहा जा सकता।

देह के अभाव में ज्ञान रह सकता है कि नहीं, यह प्रश्न इसलिए भी अनिर्णीत रहता है कि देह के अभाव में ज्ञाता देही मनुष्यों को अपना सम्प्रेषण नहीं कर सकता और जो सम्प्रेषण कर सकता है वह देहवान् ही दिखाई देता है। अनेक धर्मों में यह माना जाता है कि ईश्वर अन्त:प्रेरणा एवं शब्द के द्वारा ज्ञान प्रदान करता है। सामान्य जीवन में भी कभी-कभी स्वप्न अथवा ध्यान में इस प्रकार की प्रेरणा या वचन सुनाई देते हैं। किन्तु इन सब स्थलों में यह संशय सम्भव है कि सम्भव है प्रेरणा, श्रुति अथवा प्रतिभा सुनने वाले के ही मन से उपजी हो। अत: अशरीरी ज्ञाता और देह-निरपेक्ष ज्ञान की सत्ता असंदिग्ध रूप से सिद्ध नहीं होती। किन्तु इसका कारण सामान्य लौकिक अनुभव की सीमाओं को मानकर प्रवृत्त हुए तर्क की स्वारोपित सीमाएँ हैं। मैं एक देहधारी और देहाभिमानी प्राणि हूँ, मेरा सभी ज्ञान मेरी इस दैहिक सत्ता पर आश्रित प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-ज्ञान के बिना ज्ञान के अन्य रूप व्यक्त नहीं हो पाते हैं। किसी अशरीरी सत्ता का मुझे ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि मेरा सभी ज्ञान इन्द्रियों पर आश्रित है। अशरीरी सत्ता के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत किये

गये हैं वे सब यह मानकर चलते हैं कि शरीर के बिना ज्ञान का सम्प्रेषण अथवा अन्य क्रिया सम्भव है, किन्तु यह मान्यता ही प्रमाण की अपेक्षा रखती है।

दूसरी ओर ज्ञान स्वयं असंदिग्ध रूप से अतीन्द्रिय है, अत: उसके अव्यवहित सम्बन्धी भी स्वरूपत: अतीन्द्रिय होने चाहिएं। ज्ञान का अन्तर्विषयी ज्ञान के समान ही इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकता। पर इस अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता के ऐन्द्रिय सत्ता के आश्रित अथवा कार्य होने की कल्पना हम सहज रूप से स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु अत्यन्त विजातीय इन पदार्थों के सम्बन्ध की कल्पना दुर्बोध है। उनमें तादात्म्य की प्रतीति सहज होते हुए भी वह युक्ति-विरुद्ध है। दूसरी ओर उनमें एक-दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता प्रत्यक्ष होते हुए भी एक-दूसरे की उत्पादकता असिद्ध है। विचारों और भावों का प्रभाव देह पर पड़ता है, देह की अवस्थाओं का प्रभाव मन पर पड़ता है, किन्तु क्या पूर्व कर्म से देह बनती है अथवा तपस्वियों के संकल्प से भौतिक पदार्थ परिवर्तित हो सकते हैं, इन मान्यताओं का प्रमाण असाधारण या अलौकिक अनुभूति में ही मिल सकता है। जो यह मानते हैं कि प्रत्यक्षगोचर पदार्थों और उनके सामान्यतया अनुभूत नियमों के अतिरिक्त और कोई वस्तु-सत्ता हो ही नहीं सकती, उनके लिए सभी अलौकिक एवं चमत्कारी अनुभूति भ्रान्ति मात्र है। किन्तु यह मान्यता लोकायतवाद जैसी ही है। दूसरी ओर धार्मिक आस्था के विषयों तथा आगम और योगि-प्रत्यक्ष न मानने पर दर्शन का आलोच्य ज्ञान भी लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमाओं के अन्दर ही रहेगा।

यह सही है कि सभी पारम्परिक दर्शनों में अनुमान के द्वारा अभौतिक और अतीन्द्रिय चेतन सत्ताओं को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। आत्मा, देवता और ईश्वर इस प्रकार की सत्ताएँ अतीन्द्रिय हैं। इन सब में ज्ञान की स्वरूप-योग्यता स्वीकार की जाती है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण स्वतन्त्र माना जाता है, देवताओं का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान का ही अंश है। आत्मा के विषय में अनेक प्रकार की अवधारणाएँ हैं, किन्तु उसमें ज्ञान की स्वरूप-योग्यता सभी स्वीकार करते हैं। किसी भी आस्तिक दर्शन में ज्ञान देह का धर्म नहीं माना जाता। ज्ञान को अभौतिक सत्ता का ही मौलिक धर्म कहा जाता है। चेतन और अचेतन के इस मौलिक भेद पर ही सभी आस्तिकवादी युक्तियाँ आश्रित हैं। भौतिकवादी दर्शन में ज्ञान-व्यवहार अन्तत: दैहिक क्रियाकलाप में विलोप्य बन जाता है। इस विलयन में ज्ञानमूलक चेष्टा और भौतिक क्रिया में यही अन्तर है कि ज्ञानमूलक चेष्टा में युक्ति-संगति और प्रयोजनवत्ता लक्षित होती है। किन्तु ये लक्षण अचेतन यन्त्र की क्रिया में भी देखे जा सकते हैं। किन्तु यह युक्ति यह मानकर चलती है कि इस प्रकार के यन्त्रों का ज्ञानयुक्त मनुष्य के द्वारा निर्माण एक

अन्यथा-सिद्ध धर्म है। यन्त्रों का निर्माण भविष्य में यन्त्र ही कर सकेंगे, ऐसी भी कल्पना है। मानव-बुद्धि अथवा मस्तिष्क भी एक जैविक यन्त्र के रूप में समझा जा सकता है जिसका इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र अधिकाधिक सफल अनुकरण कर रहे हैं, किन्तु वस्तुत: कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफिश्यल इंटेलीजेंस) और उसके उपकरणों की चेतनवत्ता को चैतन्य समझना एक भ्रान्ति है। चैतन्य अथवा ज्ञान का स्वरूप उसकी प्रत्यक्ष-गोचर अभिव्यक्तियों से पता नहीं चलता, उसका पता अपरोक्ष बोध से ही चलता है। जड़ वस्तु की यह विशेषता है कि उसमें जो दीखता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। हेगेल ने इसलिए जड़ प्रकृति को सारहीन छिक्कल बतलाया था। इसके विपरीत मनुष्य में स्वचेतन अस्मिता होती है, उसकी स्वतन्त्रता उसे भौतिक पदार्थों से मूलत: पृथक् करती है। भौतिक द्रव्य अपनी स्थिति या गति को स्वत: परिवर्तित नहीं कर सकते। यह बात न्यूटन के तीन मौलिक अभ्युपगमों से स्पष्ट है। फलत: भौतिक जगत् को एक अभौतिक स्वतन्त्र प्रवर्तक की अपेक्षा रहती है। यदि जगत् की सृष्टि एक सीमित काल के पूर्व हुई थी तो न होने से होने की स्थिति में उसके प्रवेश के लिए चेतन कर्त्ता की अपेक्षा होती है, जो भौतिक द्रव्य के विभक्त और संयोजित होने की प्रक्रियाओं का प्रवर्तन करे और स्वभाव से अवच्छिन्न नियमों का हेतु बने। आजकल जो एक आद्य विस्फोट से सृष्टि का आरम्भ मानते हैं वे विस्फोट के क्षण के पूर्व काल, स्वभाव और नियम को अविद्यमान मानते हैं। उनके अनुसार यह आद्य विस्फोट या सृष्टि सर्वथा अतर्क्य है। जो सृष्टि-प्रलय के क्रम को अनादि मानते हैं उनकी दृष्टि से भी सृष्टि के बाहर किसी चेतन कर्त्ता की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु पहले विकल्प में यदि सृष्टि की मूलभूत स्थिति स्वाभाविक है तो उसमें परिवर्तन का हेतु होना चाहिए। यदि सृष्टि-प्रलय का क्रम अनादि है तो यह कहना होगा कि इस निरन्तर उत्पाद और व्यय के बावजूद उसकी ऊर्जा अक्षय बनी रहती है। किन्तु यह भौतिक ऊर्जा के स्वभाव के विरुद्ध है कि वह कार्य करने पर अक्षय या अव्यय बनी रहे। भौतिक द्रव्य के असंख्य अवयव होने पर काल की अनन्तता इस असंख्यता से अधिक होगी। जो इस काल-शक्ति को अन्तत: कर्मात्मक मानते हैं वे स्पष्ट ही उसके मूल में जीव-चैतन्य की क्रिया देखते हैं। इन असंख्य जीवन-क्रियाओं के फल-रूप कर्म की इकाइयों को सामंजस्य प्रदान करने के लिए एक जीवातिशायी चेतन-शक्ति की अपेक्षा होती है।

जड़ जगत् की नियमवत्ता के साथ ही उसके अन्दर प्राणि-विकास में प्रयोजनवत्ता भी प्रत्यक्ष होती है। प्राणियों की देह-रचना में प्राणि की जिजीविषा के अनुकूल अंगों की उपकारकता देखी जा सकती है। इस प्रकार के प्रयोजन का संधान भी चेतन स्रष्टा को विज्ञापित करता है।

इस प्रकार के जो तर्क दिये गए हैं उनसे भले ही जगत् के रूप में चेतन सत्ता सिद्ध हो अथवा नहीं हो, किन्तु यह तो स्पष्ट होता है कि बिना नियम और प्रयोजन के जगत् को समझा नहीं जा सकता। नियम घटना मात्र में शेष नहीं होते, वे घटना-क्रम के बुद्धिगम्य प्रारूप होते हैं। ऐसे ही प्रयोजनवत्ता को घुणाक्षर न्याय से नहीं समझाया जा सकता, नियम और प्रयोजन की संकल्पनाएँ चेतन सत्ता की सहज कल्पनाएँ हैं। इन्हीं संकल्पनाओं के विवक्षित तत्त्वों की खूँटियों पर सारा जगत् टँगा है। ज्ञान जड़ जगत् की अंधी क्रिया नहीं है। जड़ जगत् ही ज्ञान से अपना सर्वस्व प्राप्त करता है।

जैसे जगत् के सृष्टि-नियम और प्रयोजनवत्ता ईश्वरीय ज्ञान को संकेति करते हैं ऐसे ही मानव-सत्ता भी आत्मिक और ईश्वरीय ज्ञान की ज्ञापक होती है। पशु-जीवन अपनी, और उससे भी अधिक अपनी जाति की, जिजीविषा से प्रेरित होता है। मानव-जीवन इस नैसर्गिक जिजीविषा में सम्पूर्ण नहीं होता, उसमें तत्त्व-जिज्ञासा और आत्म-जिज्ञासा के साथ भाव-सम्प्रेषण और कर्त्तव्य-बुद्धि की प्रेरणा रहती है। जिस अहं-प्रतीति के साथ ये प्रेरणाएँ जुड़ी हैं वे देह से भिन्न आत्मा की सत्ता का संकेत देती हैं। विद्या, कला और धर्म या कर्त्तव्य-बुद्धि, विवेक की ये प्रेरणाएँ देहाभिमान में पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं होतीं। *'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यां अर्थं च चिन्तयेत्'* विद्या की यह सुदीर्घ परम्परा है और वह व्यक्तिगत मन की घटनाओं से स्वतन्त्र है। रामानुजम् सुदूर देशकाल में आविष्कृत गणित के प्रमेयों को प्रतिभा के बल से उपलब्ध करते रहे। इस प्रकार के ज्ञान के अन्तर्विषयी ज्ञाता को देही प्रमाता के रूप में नहीं समझा जा सकता। तात्कालिक ऐन्द्रिय मस्तिष्कीय घटनाओं में प्रदत्त संवेद्यों को उन में व्याप्त सामान्यों और नियमों के दृष्टान्त के रूप में देखना जिस अन्वयकारी और साक्षात्कारी विषयी की सूचना देता है वह अनुभव-धारा में अप्रवाही कूटस्थवत् चैतन्य ही हो सकता है। संवेद्यों में सामान्य का अवधारण संवेदन से पृथक् बोध होता है जिसका विषयी भी संवेदनकालीन घटना मात्र नहीं हो सकता। अपेक्षा-बुद्धि के लिए अनेक संवेदनों का समान विषयी होना चाहिए। यही नहीं, जो स्वयं प्रवाहित हो रहा है उसे स्वयं प्रवाह का पता नहीं चलता, इस प्रकार अहं-प्रतीति के रूप में जिस ज्ञान की सत्ता अनिषेध्य है उसे देह और मन की प्रवहमान् अवस्थाओं से अभिन्न नहीं समझा जा सकता।

इस प्रकार जगत् के प्रतिदर्श या मूलभूत ज्ञान के रूप में ईश्वरीय ज्ञान की सत्ता और मानव-जीवन में साक्षी रूप में आत्मज्ञान की सत्ता विभिन्न प्रकार के अनुमानों से सिद्ध होती है। यही नहीं, सत्ता के स्वरूप पर विचार भी हमें ज्ञान की स्वायत्तता को प्रदर्शित करता है। हमने ऊपर सत्ता पर विचार करते हुए यह पाया था कि सत्ता, अस्तित्व, अस्मिता आदि के मूल में अवस्थित जो व्यापक सत् का प्रत्यय है वह एक

सर्वव्यापी, अखण्ड और अनिर्वचनीय तत्त्व को सूचित करता है। सत् का विश्लेषण द्रव्य, गुण, कर्म, जाति, उपाधि, सम्बन्ध, व्यावृत्ति, विकल्प आदि में नहीं किया जा सकता। यह सत् ज्ञान के सम्भाव्य विषय के रूप में ही अवधारित किया जा सकता है। किसी विशेष इन्द्रियगोचर या विकल्पगोचर के रूप में वह पूर्णतया व्यक्त नहीं होता बल्कि उन सब रूपों के अछूते आधार के रूप में प्रतीत होता है। तो भी वह ज्ञान के संदर्भ में असम्भाव्य नहीं हो सकता। वास्तविकता का बीज होते हुए भी सत् परिच्छिन्न वास्तविकता का अतिक्रमण करता है, किन्तु वह सम्भाव्यता का अतिक्रमण नहीं कर सकता। अत: सत् का मूल प्रकाश ज्ञान की अपनी अप्रतिषेध्यता में और अपने विषय की सम्भाव्यता में होता है। इस प्रकार सत् की पूर्णता एवं ज्ञान की पूर्णता एक ऐसे अद्वैत में होगी जिसमें सब विशेष अन्तर्भूत हैं। सत् और ज्ञान को स्वरूप-शून्यवत् अव्यक्त किन्तु सर्वाकार व्यंजक दो विभिन्न तत्त्व मानने के स्थान पर यह मानना बेहतर है कि वे स्वप्रकाश और अनन्त अद्वैत हैं। विषय और विषयी के रूप में यही अद्वैत विभक्तवत् होता है और असंख्य विषयों के रूप में इसकी अनन्तता व्यक्त होती है। इस प्रकार देशकाल और अवधारणात्मक प्रत्ययों को अपने में समेटे और उनसे उत्तीर्ण अनन्त और अद्वैत आत्मज्ञान में सत्ता और ज्ञान, विषय और विषयी नित्य एक रूप में रहते हैं।

यह आपत्ति की जा सकती है कि ये अवधारणाएँ मात्र सम्भावनात्मक और कल्पनात्मक हैं। वे उनमें अनेक दर्शनों और धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टियों का व्यामिश्र भी हैं। जगत्-कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अनुमान, जगत् में प्रयोजनवत्ता को मानना, देह और ज्ञान के अभेद की कल्पना, ज्ञान को व्यक्तियों के चिन्तन एवं उपलब्धियों के अतिरिक्त सत्ता प्रदान करना, आत्मज्ञान की कोटि में सभी पदार्थ-कोटियों का विलयन,आत्म-ज्ञान की अवधारणा का वस्तुसात्करण—ये सभी मान्यताएँ असिद्ध एवं संदिग्ध हैं। इन आपत्तियों पर क्रमश: विचार करना आवश्यक है। जगत्-कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अनुमान पश्चिम में सन्त टॉमस एक्विनास आदि ईसाई विचारकों ने और भारत में विशेष रूप से न्याय दार्शनिकों ने किया है, जिनमें उदयन और गंगेश उपाध्याय के नाम उल्लेख्य हैं। इन युक्तियों का अनेक दार्शनिकों ने विरोध किया है जिनमें काण्ट और मिल, बौद्ध और जैन दार्शनिक गिनाये जा सकते हैं। वर्तमान युग में अधिकांश पश्चिमी दार्शनिक इस प्रकार के ईश्वरानुमान को ठीक नहीं मानते। इतिहास के संक्षिप्त उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ईश्वर के अनुमान का विषय अनेक संदेहों से घिरा हुआ है, किन्तु वह सर्वथा निर्मूल है यह कहना भी एक साहसिक बात ही होगी। यदि सभी आग्रहों को छोड़ दें तो यह कहना होगा कि ईश्वरानुमान एक

शाश्वत विश्व-दृष्टि के तार्किक उपपादन का प्रयत्न करता है, ईश्वरानुमान का सरलतम रूप है क्षिति, अंकुर आदि जगत् का कोई कर्त्ता है क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट। क्षिति और अंकुर अजीव और जैविक पदार्थों के संक्षिप्त वाचक हैं। जगत् जिन पंचभौतिक व्यूहों की समष्टि है उनमें कुछ जैविक पदार्थ हैं, कुछ सर्वथा निर्जीव। पंचभौतिक से तात्पर्य है पंचेन्द्रिय-ग्राह्य धर्मों से विशिष्ट धर्मी। ये धर्मी परमाणुओं से लेकर ग्रह-उपग्रह और नीहारिकाओं तक देशकाल में अवस्थित हैं। इनमें कुछ व्यूह जीव-विशिष्ट भी ज्ञात होते हैं। यदि निरवयवतया कल्पित परमाणु रूप उपादान को छोड़ दें तो शेष सभी व्यूह अवयवों के संयोग-विभाग से उत्पन्न और नष्ट होते हैं। वस्तुतः निरवयव और नित्य परमाणु की कल्पना ही अनुपपन्न है। परमाणुवाद का जो खण्डन वसुबन्धु और शंकराचार्य ने किया है उसका उद्धार असम्भव सा प्रतीत होता है। यहाँ पर आधुनिक वैज्ञानिक अणुओं को विखण्डित कर जिन परमाणुओं का अनुसन्धान करते हैं वे एकसाथ ही द्रव्य-कण और ऊर्जा-तरंग हैं। द्रव्य और ऊर्जा परिवर्तनीय हैं। अतः मूल उपादान नित्य पृथक्-पृथक् परमाणु न होकर परिणामी ऊर्जा-प्रवाह सिद्ध होता है। इस प्रवाह को वे अनादि नहीं मानते, क्योंकि ऊर्जा का व्यापार निरन्तर क्षीण होकर एक ऐसी साम्य अवस्था की ओर बढ़ता है जहाँ क्रिया सम्भव नहीं है। अनेक तर्कों से वैज्ञानिक जगत् को सादी मानते हैं किन्तु वे उस आद्य अवस्था में किसी प्रकार का स्वभाव या नियम न मानने के कारण सृष्टि के आदि को अपर्यनुयोज्य कहते हैं। उनके मत का उल्लेख यहाँ इसलिए सार्थक है कि उनके अनुसन्धान ने सिद्ध किया है कि नित्य परमाणु का कहीं पता नहीं चलता और अतएव उसकी कल्पना में जो अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं उन्हें मानने से दर्शन विज्ञानसिद्ध तत्त्वों का विरोधी नहीं होगा। जगत् का मूल उपादान द्रव्यकण-ऊर्जातरंगात्मक है, जिसके विवर्तन से अणु-संघात और दृश्य-व्यूह बने हुए हैं। संक्षेप में, जगत् की भूत-भौतिकात्मकता समसामयिक विज्ञान से, अर्थात् ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क के आधार पर, सिद्ध होती है। जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं उनके लिए विज्ञान-सम्मत मत ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। इस विवरण से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है और उसके लिए एक मूल प्रवर्तक हेतु युक्तिसंगत प्रतीत होता है, जो कि जगत् के बाहर होना चाहिए। अर्थात् ईश्वरानुमान में कार्यत्वरूप हेतु असिद्ध नहीं है।

मानव-लोक के रूप में भूगोल एक ऐसी इकाई है जिसमें भौतिक पर्यावरण जैविक सत्ता के विकास का सहायक है। भौतिक जगत् के अपार विस्तार में जैविक-भौतिक तत्त्वों की परस्परोपकारी इकाई दुर्लभ और दुस्सम्भाव्य है। उसे घुणाक्षर न्याय से आगन्तुक घटना मानना सम्भावना के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है। अतः उसे ऐसी

कारणता का कार्य मानना चाहिए जिसमें निमित्त कारण के रूप में साध्य कारक विभावी चेतन सत्ता होनी चाहिए। जिस प्रकार का कार्यत्व इस मानव-जगत् में उपलब्ध होता है वह चेतन-कर्त्तृत्व के अनुरूप है। इस प्रकार की अदृश्य नियामक चेतन-सत्ता ईश्वर पद-वाच्य है।

यह सही है कि यह अनुमान सम्भावनात्मक युक्ति का उपयोग करता है, जो ऐकान्तिक नहीं है। यह भी सही है कि जैविक सत्ता को भौतिक सत्ता का आगन्तुक परिणाम मानने पर और भौगोलिक सत्ता को ब्रह्माण्ड की अराजक और अविदितप्राय सत्ता का एक नगण्य आगन्तुक भाग मानने पर ये युक्तियाँ निरस्त हो जाती हैं, किन्तु आगन्तुकता पर इतना अधिक प्रश्रय कारणता का अज्ञान ही विज्ञापित करता है। वस्तुत: कारणता कोई अतर्क्य घटनावली नहीं है। उसमें स्वभावमूलक नियमों की भूमिका रहती है और इसके साथ ही न होकर होना और होकर न होना, यह कोई अहेतुक नियम नहीं है। कर्म का आद्य प्रवर्तन अथवा आद्य परिवर्तन एक मूल चेतन सत्ता की अपेक्षा रखता है। चेतन सत्ता की अपेक्षा से ही *स्वभाव* और *नियम* सार्थक पद होते हैं। जगत् को अचेतन द्रव्यों की ठेलम-ठेल मानने पर भी उसकी सम्भाव्य प्रलयाभिमुखता से उसकी सृष्टि या आद्य प्रवर्तन अनुमेय है।

जैविक सत्ता के बीजों में जातीय आकारों को नियमत: उत्पन्न करने की क्षमता भी यदि भौतिक सत्ता के रूप अचेतनतया ही सम्पादित करते हैं, तो यह किसी करिश्मे से कम नहीं है। अंधे के हाथ हमेशा बटेर लगती है, यह मानने से बेहतर है यह मानना कि वह किसी न किसी रूप में बटेर पहचान लेता है। यदि संयोगमात्र चैतन्य-योग्य कार्य कर सकता है तो यह मानना चाहिए कि भौतिकता और संयोग आवरण मात्र हैं और उनके पीछे चैतन्य और उसकी नियामकता विद्यमान है। स्मरणीय है कि हाल्डेन ने एक स्थान पर कहा था कि प्राणी और पर्यावरण को स्वतन्त्र और पृथक् मानने से प्राणि-विकास दुर्बोध हो जाता है। ऐसा ही आशय विलियन जेम्स ने प्रसिद्ध आलेख में व्यक्त किया था, कि व्यक्ति और समाज को अलग मान लेने से दोनों ही दुर्बोध हो जाते हैं। वस्तुत: जो अचेतन को प्रधान मानकर चेतन को उसका आगन्तुक विवर्त मानते हैं उनके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि चेतन ही प्रधान है जो अपने को क्रमश: भौतिक के छिल्के से बाहर व्यक्त कर रहा है। प्रकृतिवैज्ञानिक अपने को सचेतन और प्रकृति को अचेतन उपयोगास्पद मानते हैं, किन्तु वे अपने को प्रकृति का अंग मानते हैं अत: प्रकृति में किसी न किसी रूप से चैतन्य और आत्मज्ञान की क्षमता माननी चाहिए। यही नहीं, विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास ने यह सिद्ध किया है कि विज्ञान सिर्फ इन्द्रिय-प्रदत्त संवेदों का संक्षेप नहीं है बल्कि वैज्ञानिकों के बुद्धिगोचर तत्त्वों के

माध्यम से ऐन्द्रिय संवेदों की मौलिक पकड़ है। उदाहरण के लिए एच. फंक्शन स्वतन्त्र रूप से आवष्कित हुआ और उसका प्राविधिक उपयोग बाद में पता चला, ग्रुप थियोरी का स्वतन्त्र आविष्कार हुआ और उसके दूरगामी उपयोग धीरे-धीरे पता चले। प्रकृति का मर्म और बुद्धि के आविष्कार के बीच यह अद्भुत सामंजस्य यह सिद्ध करता है कि तथाकथित जड़ प्रकृति और चेतन बुद्धि को नितान्त विजातीय नहीं माना जा सकता।

जिसे वैज्ञानिक प्रमाता प्रकृति कहता है वह ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु उस प्रकृति को जानने वाला स्व उस प्रकार से नहीं जाना जाता। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की विषयता और जड़ता में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता, इसी कारण वैज्ञानिक के लिए अशेष प्राणि-जगत् भी जड़ता के अतिरिक्त कोई लक्षण नहीं प्रदर्शित करता। पशुओं और मनुष्यों में भी चैतन्य की प्रतीति उनके व्यवहार से आत्मानुमान की सहायता से ही होती है। अपने में चैतन्य की प्रतीति अपरोक्षतया ही हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु-स्वाभाव के अनेक स्तर हैं जिसमें ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष जिस अचेतन सत्ता का पता देता है वह देशकाल, कारणता और स्वाभाव से नियत होती है, किन्तु यह सत्ता स्वायत्त, स्वयंभू होने का दावा करती हुई भी वस्तुत:वैसी नहीं हो सकती, क्योंकि इसके सभी मूल तत्त्व सापेक्ष और परतन्त्र हैं। ज्ञान की विषयता ही इसका मूल तत्त्व है और वह सापेक्ष और परतन्त्र है। ज्ञान की यह विषयता उसकी मूल कोटि, पदार्थ या तत्त्व है। कहना न होगा कि ज्ञान इस संदर्भ में व्यक्ति-मानस की अभिव्यक्ति या घटना न होकर सनातन सर्वाकार साक्षी है। यही ईश्वरीय ज्ञान जगत् का अधिष्ठान है। इस प्रकार जगत् कार्यत्व और दृश्यत्व दोनों ही लक्षणों से सर्वज्ञ ईश्वर के परतन्त्र सत्ता है।

जहाँ तक जगत् में प्रयोजनवत्ता या सार्थकता का प्रश्न है, वह उसी प्रकार की अभिकल्पना है जैसी कार्य-कारण भाव की। किसी पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व में अन्य वस्तुओं की नियत पूर्ववर्तिता के ज्ञान से उसके कारणों का पता चलता है। पूर्ववर्तिता नियत है यह कभी भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु भूयोदर्शन के आधार पर हम कारणता के बुद्धि-विकल्प को स्वीकार करते हैं। जब कभी अप्रत्याशित प्रत्यक्ष से पूर्वगृहीत कल्पना व्यभिचरित हो जाती है तो हम नियम का संशोधन या परिवर्तन कर देते हैं। उदाहरण के लिए कौए काले होते हैं किन्तु सुदूर ऑस्ट्रेलिया में सफेद कौओं का पता चला है। अनेकानेक वैज्ञानिक नियम संशोधित होते रहते हैं, किन्तु नियत कारणता को मानना वैज्ञानिक विचार की एक शर्त है तो भी यह शर्त क्वांटम के स्तर पर लागू नहीं होती। इसलिए अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक यह

मानते हैं कि वर्तमान भौतिकी कार्यकारण भाव को परमार्थत: नहीं मानती। तो भी उसका उपयोग स्थूल स्तर पर सार्थक और आवश्यक है। इसी व्यावहारिक स्तर की तत्त्वग्राहिका बुद्धि कार्य-कारण भाव को आवश्यक रूप से विकल्पित करती है। जो स्थान जड़ सत्ता के व्यापारों को समझने में कारणता का है वही स्थान प्राणि-व्यवहार और चेतन व्यवहार को समझने में प्रयोजनवत्ता का है। पशुओं के व्यवहार में भी इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार की चेष्टा देखी जाती है। मनुष्यों में इष्टानिष्ट का विचारपूर्वक विवेक भी देखा जाता है। मानव-व्यवहार को प्रयोजनवत्ता के बिना सिर्फ प्रवृत्ति-परतन्त्रता से नहीं समझा जा सकता। प्रकारान्तर से यह कहना चाहिए कि मानव-व्यवहार के कारणों में साध्य का विचार एक प्रमुख कारण होता है। जड़ तत्त्वों से मानव-जीवन के विकास का इतिहास भी प्रकृतिगत प्रयोजनवत्ता के अनुकूल प्रतीत होता है। प्रयोजनहीनता और निरर्थकता ही भौतिक एवं जैविक प्रकृति का स्वाभाव है, इस बात को मानने के लिए सहृदय बुद्धि तैयार नहीं होती। हम सचमुच ही एक निरर्थक विश्व में निरर्थक जीवन जी रहे हैं, यह बात हृदयग्राही नहीं होती। यह सही है कि विज्ञानसम्मत दर्शन में मानव-हृदय के भावों को प्रमाण नहीं माना जाता, किन्तु भावों के अभिज्ञ साहित्याकारों की कृतियों में एक दूसरा पक्ष देखने में आता है। श्रद्धा हृदय की ही पुकार है, जैसे आस्था और निष्ठा। जो वैराग्यवादी या त्रासदीवादी जीवन को अर्थहीन दिखलाते हैं वे भी अपनी निष्ठा नैराश्य-जनित जीवन से विमुक्ति में व्यक्त करते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य झूठी आशाओं से प्रताड़ित होता है। व्यक्तिगत आग्रहों और मनोरथों से मुक्त होकर मनुष्य को जीवन के यथार्थ स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। इस दृष्टि में एक निरपेक्ष शान्त चेतना ही सकाम चेतना के ऊपर प्रतिष्ठित दीखती है। यह वस्तुत: निरर्थकता की दृष्टि नहीं है। यह चेतना की ही पारमार्थिकता की दृष्टि है। यही कारण है कि घोर त्रासदी के प्रेक्षक भी दु:ख-मग्न न होकर एक प्रकार की मुक्ति का अनुभव करते हैं। इसी कारण त्रासदी की कोटि को व्यथित विलाप से पृथक् किया जाता है, इसीलिए अभिनव गुप्त ने नाट्य में रोने-पीटने को अविवेकियों का लक्षण बताया है और सब रसों को शान्तप्राय कहा है। यही दृष्टि येट्स की प्रसिद्ध पंक्तियों में व्यक्त है—

कास्ट ए कोल्ड आई
ऑन लाइफ, ऑन डैथ।।

विश्व की सार्थकता ईश्वर की माँग करती है। सार्थकता रूपी हेतु की विश्व में विद्यमानता की गवाही मानव-हृदय में है न कि शुष्क तर्क में, विश्व-साहित्य में न कि जड़ विज्ञान में, धर्म-दर्शन में न कि भौतिकवादी दर्शन में।

'मैं हूँ', इसमें किसी को संदेह नहीं होता, किन्तु 'मैं क्या हूँ' यह निश्चय ही एक विवादास्पद विषय है। 'मैं जानता, अनुभव करता हूँ', 'मैं देह और मन से जुड़ा हूँ' यह विश्वजनीन प्रतीति है, किन्तु दो प्रकार की युक्तियों में यह धारणा पुष्ट होती है कि 'मैं देह और मन से अतिरिक्त चेतन सत्ता हूँ'। एक युक्ति तो यह है कि शरीर और मन की बदलती अवस्थाओं में मुझे अपने वही बने रहने की प्रतीति होती है। दूसरी युक्ति धार्मिक श्रद्धा या आस्था की है, जिसके अनुसार मृत्यु के साथ मनुष्य समाप्त नहीं हो जाता। भौतिकवादी विचारक इन दोनों युक्तियों को नहीं मानते, बौद्ध अनात्मवाद पहली युक्ति को नहीं मानता। यह तो सबका अनुभव है कि वे अपने को देह और मन से अभिन्न अनुभव करते हुए भी उनसे अपने को भिन्न ही मानते हैं। जिस शरीर के द्वारा मनुष्य की कानूनी पहचान होती है उसमें नाना क्षतियों, विकृतियों और रूपान्तरणों के बावजूद मनुष्य की पहचान नहीं बदलती, जिन जीवाणुओं से देह बनी है वे बदल जाते हैं किन्तु एक ही प्रवाह के अन्दर होने के कारण बदली हुई देह भी वही देह मानी जाती है। इस प्रवाहगत परिवर्तन के पीछे जन्मागत बीज संस्कारों की रचना अपरिवर्तित बनी रहती है। ऐसे ही मन की अवस्थाएँ भी एक प्रवाह के अन्दर बदलती हैं किन्तु उनमें भी संस्कार न्यूनाधिक रूप से बने रहते हैं। दैहिक और मानसिक परिवर्तनों के बीच अपने बने रहने की पहचान स्मृति के द्वारा सिद्ध होती है। यह सही है कि स्मृति न्यूनाधिक रूप से मस्तिष्कीय क्षति होने के कारण नष्ट हो सकती है, ऐसी स्थिति में अपनी पहचान भी लुप्त हो जाती है। तो भी अपने होने का ज्ञान लुप्त नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे दैहिक-मानसिक जीवन के द्वारा अर्जित पहचान एक परतन्त्र और आगन्तुक धर्म है, जो उसके साधनों के न होने पर चेतना से अलग हो जाती है। मूर्च्छा अथवा मूर्च्छा जैसी स्थितियों में चेतना ही लुप्त हो जाती है। किन्तु उसके फिर से लौटने के दृष्टान्तों से यह अनुमान हो सकता है कि वह नष्ट न होकर साधन के अभाव में औरों के लिए अप्रकट हो जाती है। इस स्थिति में चेतन अहं के देह और मन के साथ सम्बन्ध को लेकर विनिगमक के अभाव में संशय बना रहता है। आगमिक एवं योगि-ज्ञान के आधार पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि देह और मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त होने पर चेतना का लोप उसका नाश है या उसकी अव्यक्त अवस्था। मृत्यु के समय तो देह नष्ट हो जाती है, यदि उसके बाद भी चेतन-सत्ता रहती है तो उसे जीवनकाल में देह के अतिरिक्त सत्ता मानना चाहिए।

जहाँ तक बौद्ध दार्शनिकों का प्रश्न है, वे कूटस्थ नित्य द्रव्य-सत् आत्मा का निषेध करते हैं। किन्तु वे ऐसे चित्त-प्रवाह का निषेध नहीं करते जो मरने के बाद भी चलता रहता है! वस्तुतः व्यावहारिक आत्मा की अनुवर्तमानता उसके अहं-विकल्प

या अहं-प्रत्यभिज्ञान पर निर्भर नहीं करती। वह उसके कर्म-फल, उसकी कर्म-फलात्मक सत्ता पर निर्भर करती है। इस सत्ता का उसे ज्ञान आवश्यक नहीं है, जैसे देही को अपने बीज संस्कारों का। यदि किसी अपराधी की स्मृति का लोप हो जाए तो उसे निरपराधी नहीं घोषित किया जाता। उसकी चिकित्सा होती है। दूसरी ओर समस्त व्यवहार के साक्षी के रूप में उसकी सत्ता उसके व्यवहार-प्रवाह से भी स्वरूपत: अछूती है। यह चेतन द्रष्टा अनुभव-प्रवाह में निमग्न चैतन्य के रूप में प्रमाता, भोक्ता और कर्त्ता होता है, यह सांख्य और वेदान्त में प्रसिद्ध है। किसी न किसी रूप में यह सभी आस्तिक दर्शनों की आधारभूत आस्था है कि चेतन आत्मा संसार में अनुभव करते हुए भी देह और मन से एक अतिरिक्त सत्ता है। जैसे ईश्वरीय ज्ञान जगत् का मूल और अधिष्ठान है ऐसे ही यह आत्मिक ज्ञान समस्त चेतन व्यवहार का। ज्ञान स्वतन्त्र विषयात्मक पदार्थों के घात-प्रतिघात का आकस्मिक निश्यन्द नहीं है प्रत्युत उनमें व्याप्त विषयता ही ज्ञान-सूर्य की रश्मियों का वितान है, जिससे वे विद्धत हैं।

वस्तु-जगत् को समझने का प्रयास अगत्या उनकी नियमवत्ता के द्वारा ज्ञान की आधारभूत भूमिका स्पष्ट करता है। ज्ञान के व्यवहारात्मक और मानसिक घटनात्मक स्तरों में ज्ञान की दोहरी भूमिका व्याप्त रहती है, एक तो विषयों की पूर्वापेक्षित पदार्थ-कोटियों अथवा मौलिक प्रकारों के रूप में, दूसरी समस्त विषयों और प्रकारों की अकालिक साक्षिता के रूप में।

व्यक्तिगत चिन्तना के साथ ज्ञान का पारमार्थिक तादात्म्य वैसी ही भ्रान्ति है जैसी उसका दैहिक व्यवहार के साथ। दैहिक व्यवहार स्वत: मात्र दृश्य क्रिया है, जिसमें ज्ञान की व्यंजकता से ज्ञान का आरोप होता है। व्यक्तिगत चिन्तन संवेदनों के विकल्पन के रूप में वस्तुत: ज्ञान की खोज होता है। ज्ञान तत्त्वबोध के रूप में ही मनोवृत्ति में व्यक्त होता है और साक्षि-केन्द्रित होता है। मनोवृत्ति में व्यक्त तत्त्वज्ञान या शास्त्रीय विद्या के समन्वयक और साक्षी के रूपमें चेतन आत्मा की अपेक्षा होती है। अन्यथा ज्ञान स्वरूपत: निर्वैयक्तिक और अकालिक ही होता है किन्तु उसमें सामाजिक सम्प्रेषण की योग्यता आत्मा और मन, द्रष्टा और दृश्य साधन के संयोग से ही उत्पन्न होती है।

यहाँ पर दो भ्रान्तियों से बचना आवश्यक है। एक तो ज्ञान अथवा चैतन्य को किसी व्यक्ति का निजी धर्म मानना, दूसरे आत्मा को भौतिक द्रव्यों के समान द्रव्यात्मक व व्यक्तिगत सत्ता मानना। व्यक्तियों का भेद ज्ञान के अन्दर ही रहता है, वह परमार्थ दृष्टि से एक प्रकार का भ्रान्ति-विज्ञान ही है, यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर वह देह और मन के साथ अध्यास के कारण सत्य प्रतीत होता है। यह अध्यास

मनोविकल्प न होकर सहज है और मनोविकल्पों का आधार है। 'मैं यह हूँ' इस प्रकार की सहज प्रतीति व्यावहारिक जीवन की बुनियाद है। ऐसे ही आत्मा को भौतिक द्रव्यों के समानान्तर द्रव्य मानना आत्मा के देहाध्यास के कारण ही है। गुणों और क्रियाओं की, और उनके साथ संवेद्य धर्मों के आधार के रूप में द्रव्य की कल्पना विषयगत धर्म-धर्मी भाव पर विचार के लिए एक आवश्यक कोटि है। किन्तु विषयगत पदार्थ कोटियाँ ज्ञान और ज्ञानस्वरूप आत्मा पर लागू नहीं होतीं। उन कोटियों को विकल्पन के ही प्राणभूत प्रकार मानना चाहिए न कि सन्मात्रानुबन्धी, क्योंकि सत् का क्षेत्र प्रतिभास अथवा विकल्प के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। यहाँ पर सत् का वाच्य प्राकृत वस्तु-सत्ता ही नहीं है।

जो दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का गुण या कार्य मानते हैं और व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद नहीं मानते हैं, वे यह नहीं बता सकते कि मुक्ति की अवस्था में आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व क्यों माना जाये। जो योग्यता कभी भी चरितार्थ नहीं होगी उसके होने-न होने में अन्तर नहीं किया जा सकता। उनके मत में अपवर्ग की स्थिति में आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण नहीं रहता क्योंकि मुक्त आत्मा को न कोई जान सकता है न वह अपने आपको जान सकती है। यदि मुक्त आत्माओं को ईश्वरीय ज्ञान मानें तब अवश्य एक निस्तार का मार्ग प्राप्त होता है। ईश्वरीय ज्ञान में स्मृतिशेष आत्मा की कल्पना अनेक दार्शनिकों ने की है।

वस्तुत: द्रव्य की कल्पना या तो तार्किक ज्ञान के संदर्भ में नित्यधर्मी की कल्पना है (अरस्तू) या वह समवायि कारण की कल्पना है (न्याय)। दोनों ही कल्पनाएँ अनित्य विषय-जगत् की हैं, क्योंकि ज्ञान स्वरूपत: न विषय है, न अनित्य। वह अनित्य विषयों को प्रकाशित करता है।

सत्ता और ज्ञान के सम्बन्ध में पहले भी विचार किया गया है। सत्ता का मौलिक पता प्रत्यक्ष से ही होता है। अनुमान से उसकी सत्ता का ही पता चल सकता है जो प्रत्यक्षगृहीत सत्ता के साथ नियमत: सम्बद्ध है। ज्ञान वस्तु-सत्ता से नितान्त भिन्न है, ज्ञान वस्तु-सत्ता से उत्पाद्य है, ज्ञान वस्तु-सत्ता से अभिन्न है—इन तीन विकल्पों पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले विकल्प में, वस्तु-सत्ता का यथार्थ ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है, यही दुरुपपाद्य हो जाएगा, जो कि अनुभव-विरुद्ध है। दूसरे विकल्प में, वस्तु-सत्ता से ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव-समर्थित है। यह मानव-सत्ता में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। किन्तु इस विकल्प में या तो ज्ञान को भौतिक द्रव्य का गुण या भौतिक द्रव्यों के संघात से उत्पन्न एक विलक्षण गुण माना जा सकता है। इस विकल्प को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब ज्ञान को विलक्षण न मानकर

भौतिक क्रियाओं में विश्लेष्य माना जाये। परन्तु यह पक्ष भी अनुभव-विरुद्ध है। वैज्ञानिकों को छोड़कर और कोई ज्ञान को क्रिया मात्र नहीं मानता। एक स्थूल रूप में तीसरा विकल्प सबका परिचित है। मनुष्य अपनी सत्ता एवं अपने ज्ञान को अलग करके नहीं देखता, वह है और वह ज्ञानवान् है, इन दो आयामों का एक साथ परन्तु भिन्न-भिन्न पता चलता है। दैहिक सत्ता का पता ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से चलता है, ज्ञान का पता उसकी अपरोक्षता से, इन दोनों के विचित्र संयोग को अतर्क्य मानते हुए सभी भारतीय दार्शनिकों ने, चार्वाक को छोड़कर, इसे अनादि अविद्या तथा मिथ्या ज्ञान माना है। जन्म से ही मनुष्य अपने को देह से अभिन्न मानता है, जबकि वह स्वरूपतः चेतन सत्ता है। इस चेतन सत्ता को अविद्या और कर्म देह से जोड़े रहते हैं। वस्तु-जगत् की सृष्टि कर्म और कर्मफल प्राप्त करने के लिए होती है। इस दृष्टि से व्यावहारिक स्तर पर भौतिक सत्ता और चैतन्य के लक्षण भिन्न होने पर भी वस्तुतः भौतिक सत्ता चैतन्य-सापेक्ष है। यह सापेक्षता ईश्वर-चैतन्य के द्वारा अथवा कर्म मात्र के द्वारा सिद्ध होती है।

भौतिकवादी एवं तार्किक अज्ञेयवादी दृष्टि से अविद्या और कर्म की कल्पनाएँ आगमिक होने के कारण अप्रामाणिक हैं, किन्तु जिन सत्यों को आगमिक कहा जाता है वे साक्षात्कार या आत्मानुसंधान के द्वारा उपलभ्य माने जाते हैं। आत्मिक प्रतीति और दैहिक प्रतीति प्रायः साथ उपलब्ध होते हुए भी परस्पर विलेय नहीं हैं। मानव-अस्तित्व में यह अनुभूत और अनिषेध्य द्वैत है। आगम को न मानने वाले बुद्धिवादी दार्शनिक भी मानव-अस्तित्व के इस स्वगत भेद को आगम की सहायता के बिना पहचानते रहे हैं। संकल्पों, इच्छाओं और संवेदनों और विकल्पों में निमग्न-उन्मग्न होकर भी इसकी प्रतीति अनिषेध्य है। अपनी विषयभूत देह से और मनोवृत्तियों से अपनी सत्ता को अलग करके नहीं देखा जा सकता, किन्तु द्रष्टा और दृश्य का विवेक विचार-सिद्ध है। द्रष्टा अनुवर्ती समन्वयी साक्षी और अविषयी है, दृश्य के सभी लक्षण विपरीत हैं। यह दृग्-दृश्य विवेक सांख्य और वेदान्त में प्रसिद्ध है, बौद्धों में भी दृश्य के आत्म-तत्त्व के निषेध रूप में यह अविदित नहीं है। न्याय-वैशेषिक में भी ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है जो उसे अन्य द्रव्यों से अलग करता है। इन उदाहरणों का तात्पर्य यही सिद्ध करना है कि निरपेक्ष चेतन विषयी और देह-रूप विषय की एकता की प्रतीति आगम के बिना विचार के द्वारा भी अनुपपन्न लक्षित होती है। अनुपपन्न लक्षण ही भ्रान्ति मानी जाती है। इस भ्रान्ति की ओर आँखें मूँद लेना युक्ति और प्रमाण का परिचय नहीं देता, यह सामान्य जीवन की युक्तिहीनता का परिचय देता है।

कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों के पीछे नैतिक बुद्धि की एक प्रकार की माँग अवश्य है। नैतिक बुद्धि में कर्म के अतिरिक्त उत्तरदायित्व के लिए अन्य जीवन की माँग रहती है। यही नहीं, मनुष्य के लिए पूर्णता की साधना भी एक नैतिक आदर्श के रूप में लक्षित होती है। वह भी मनुष्य की अमरता की माँग करती है। इन्हीं विचारों से काण्ट ने मनुष्य के लिए अमरता को नैतिक बुद्धि का अभ्युपगम कहा था। सभी धर्मों में इस जीवन के कर्म-भोग के साथ न्याय करने के लिए परलोक की कल्पना रहती है। परलोक, जन्मान्तर, अदृष्ट इन सबको वस्तु-सत् मानने के लिए नैतिक बुद्धि के अभ्युपगम और अपेक्षाएँ पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि वस्तु-सत्ता को प्रमाणित करने के लिए वस्तु के अनुरूप प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष के साथ नियत सम्बन्ध-हेतु का ज्ञान आवश्यक है। नैतिक अभ्युपगम और आकाँक्षा वस्तु-सत्ता के प्रमाण न होकर मूल सत्ता के ही प्रमाण हैं। 'नैतिक बुद्धि का विधान वस्तु-जगत् का विधान है', यह सामान्य लौकिक व्यवहार की सीमा के अन्दर सिद्ध नहीं होता। उसके लिए श्रद्धागोचर आगमिक सत्य आवश्यक है, जो सर्वमान्य न होते हुए भी असम्भाव्य नहीं कहा जा सकता। जन्मान्तर को आगम-सिद्ध अथवा योगि-प्रत्यक्ष-सिद्ध मानना पड़ेगा, किन्तु उसके न मानने पर भी ज्ञान के विषय में जो विचार ऊपर किया गया है उसमें बहुत परिवर्तन नहीं होगा। विश्वजनीन स्वानुभूति पर मनन के द्वारा भी यह पता लगता है कि मैं सांसारिक व्यवहार की भूमिकाओं में अपरिसीमित एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता हूँ जिसे नैतिक आदर्शों की साधना पूरी करनी है और जो पूर्ण गुणवान् एवं निर्दोष अनन्त सत्ता से सृष्ट अर्थवान् विश्व का निवासी है। एक ओर मैं परतन्त्र और अपूर्ण जगत् में प्रक्षिप्त परतन्त्र नश्वर प्राणी हूँ, दूसरी ओर मुझे अपने में एक स्वतन्त्र चेतन-सत्ता का आभास होता है जिसमें नैतिक आदर्श की प्रेरणा है। इस विरोधाभासी द्वैत का यह समाधान कि परतन्त्र जगत् सत्य है, स्वतन्त्र चेतना का आभास मिथ्या है—यह सिर्फ उन्हें ही युक्ति-युक्त प्रतीत हो सकता है जिनके लिए ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और उस पर आश्रित तर्क ही सत्य का परम ज्ञापक है। उनके लिए आत्म-प्रतीति और आदर्श-प्रतीति के आयाम भ्रान्तिमूलक हो सकते हैं। व्यावहारिक जीवन चेतन आत्म-प्रतीति को पूर्वाभ्युपगमित करता है, चेतन सत्ता आदर्श प्रेरणा से अविनाभूत है, आदर्श प्रेरणा एक ओर चेतन सत्ता के अनुरूप अमरता का आक्षेप करती है दूसरी ओर उसके अनुरूप सार्थक विश्व एवं उसके स्रष्टा ईश्वर का, जो आदर्श साधना का चरम आश्वासन है। यदि ये सब युक्तियाँ निर्वस्तुक भ्रान्ति पर आधारित हैं तो कहना होगा कि यह भ्रान्ति भी निरर्थक जगत् के सत्य से बेहतर है।

ऊपर के विचार में यह बात बार-बार उभर कर आयी है कि ज्ञान के साधन या प्रमाण वे ही नहीं हैं जो तर्कशास्त्र में विवेचित हैं। तर्कशास्त्र का विकास बाहरी जगत् के व्यावहारिक और वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रसंग में हुआ है। दर्शनशास्त्र में उसका उपयोग या तो विज्ञान के उपपादन के लिए हुआ है अथवा नास्तिकों के विरुद्ध शास्त्रार्थ में, अथवा आगमानुसारी युक्ति से आस्तिक्य के उपपादन के लिए। किन्तु ज्ञान की सत्यता का प्रश्न केवल वस्तु-सत् विषयों तक अथवा प्रज्ञप्ति-सत् विषयों तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत तथ्यों एवं विकल्प-सिद्ध ज्ञानाकारों के अतिरिक्त ज्ञान और सत्य के और भी आयाम हैं जो एक ओर तर्कशास्त्र के द्वारा पूर्वागमित तत्त्व-विद्या, पराभौतिकी या अध्यात्म-विद्या से सम्बन्ध रखते हैं, दूसरी ओर जो मूल्यानुसंधान के नाना आयामों में उन्मीलित होते हैं। जैसे न्यायविद्या और अध्यात्म विद्या एक नहीं हैं ऐसे ही लॉजिक और फिलॉसफी ऑफ लॉजिक एक नहीं हैं, और फिलॉसफी ऑफ लॉजिक को मेटाफिज़िक्स से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यद्यपि तर्क की नियम-संहिता के रूप में तर्कशास्त्र सर्वदर्शन-सधारण विज्ञान है, उसके मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थिति भिन्न है। अन्ततः अनुमान, तर्क एवं युक्ति के प्रयोग के सत्य और मिथ्या रूप ही तर्कशास्त्र की सर्वमान्य विधि के रूप में शेष रहते हैं। इस प्रकार के युक्ति-प्रयोग जिस ज्ञान को जंन्म देते हैं वह उसकी प्रारम्भिक या मूलभूत प्रज्ञप्तियों में दिये हुए तथ्यों एवं तत्त्वों का विश्लेषण ही प्रस्तुत कर सकता है, उनकी परिधि के बाहर नहीं जा सकता। इसीलिए सांव्यावहारिक और प्राकृतिक विज्ञान में युक्ति-प्रयोग प्रत्यक्ष-प्रदत्त तथ्यों का ही विश्लेषण होता है, गणित में सामान्य अभ्युपगमों में प्रदत्त तत्त्वों का ही विश्लेषण होता है। युक्ति या तो प्रत्यक्ष के विषय में होती है या व्यावृत्त्यात्मक कल्पनाओं को मान कर उनसे निगमन के रूप में होती है, या विकल्पों को ज्ञान के रूप मान कर प्रवृत्त होती है, या अपरोक्ष अनुभव से आरम्भ होती है। चूँकि प्रत्यक्ष से प्राणि-व्यवहार के विषय ही पता चल सकते हैं और विज्ञान-सम्मत विकल्पों में प्रत्यक्ष-प्रदत्त विषयों के लक्षण, सम्बन्ध और व्यावृत्तियाँ ही मिल सकती हैं, नैतिक विधि के लिए मानसिक प्रत्यक्ष, प्रातिभज्ञान, अपरोक्षानुभूति एवं लोकोत्तर श्रुति या आगम के आधार पर ही युक्ति ज्ञान के पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित कर सकती है। दुर्भाग्यवश आधुनिक मनोविज्ञान में ये सभी अनुभव के प्रकार अमान्य हैं। मानस प्रत्यक्ष व्यक्तिगत होने से अमान्य है। प्रातिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान की ही एक विधा के रूप में मान्य है, श्रुति श्रद्धा का विषय है न कि तर्कसम्मत ज्ञान का। किन्तु इस युक्ति-प्रणाली को सर्वथा मानने पर ज्ञान की सत्ता ही संदिग्ध हो जाती है।

वस्तुत: जैसा पहले कहा गया था, ज्ञान में एक द्वैत रहता है। एक ओर वह प्राणी के व्यवहार-साधक क्रिया-कलाप के रूप में प्रकट होता है, दूसरी ओर वह उसके आत्म-बोध के रूप में रहता है। शब्दोपजीवी मनुष्य में यह आत्मबोध स्पष्ट और मुखर हो जाता है किन्तु वह व्यावहारिक बाह्य बोध से असम्पृक्त रूप में सामान्यत: उपलब्ध नहीं होता।

जहाँ तक ज्ञान का व्यवहार-साधक रूप है, वह ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में अपनी उत्पत्ति की शर्त के अनुसार ही जगत् को जड़ और परतन्त्र पाता है। अनादि वासना पर आधारित जिन पदार्थ-प्रकारों के साँचों में वह सत् की अनुभूति को ढालता है उनकी सत्यता व्यवहार-साधकता से ही जाँची जा सकती है। इन्द्रियाँ और मन अपने से स्वतन्त्र प्रदत्त का वैसा निरूपण नहीं करते जैसे कोरा कागज़। देशकाल, कारणता आदि पदार्थ या विकल्प ज्ञान के मूल प्रकार बाहरी प्रदत्त नहीं हैं। इनके बिना बाह्य सत् क्या है, यह अवक्तव्य बन जाता है।

दूसरी ओर मानस प्रत्यक्ष के बिना इच्छा, संकल्प, भावना, वेदना आदि का ज्ञान नहीं हो सकता। इन चित्त-संप्रयुक्त धर्मों में स्वसंवेदन, स्मृति एवं प्रत्यवेक्षा के द्वारा उनका ज्ञान होता है। स्वसंवेदन वस्तुत: ज्ञान का ही स्वभाव है। ज्ञान से विषयितया चित्त को व्याप्त करने से ही चैत्त धर्मों में स्वसंवेदन संक्रान्त होता है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि स्वसंवेदन धर्म चित्त में केवल साक्षिता की शक्ति ही नहीं है प्रत्युत उसमें ज्ञान, इच्छा, क्रिया और भाव की शक्तियाँ भी हैं जो मानव-व्यक्तित्व से जुड़ी रहने के कारण संकुचित रूप में ही व्यक्त हो पाती हैं। इसीलिए बौद्ध दार्शनिक चित्त से पृथक् ज्ञान अथवा आत्मा की कल्पना न कर चित्त को ही स्वरूपत: असीमित मानते हैं, जिसमें अनन्त शक्ति निहित है। शैव दार्शनिक भी चित्त को विषय-संकोचिनी चिति शक्ति बताते हैं। जो सांख्य दार्शनिक चैतन्य और चित्त को पृथक् करते हैं उनके लिए भी कपिल जैसे कैवल्यप्राप्त मुनि सर्वज्ञता और निर्माणचित्त के अधिष्ठान के कारण अवश्य ही चित्त का त्याग नहीं कर चुके थे। योग दर्शन में चैतन्य और चित्त को नात्यन्तविसदृश कहा गया है और ईश्वर को सर्वज्ञता आदि धर्मों से नित्य विशिष्ट कहा गया है। अव्यक्त प्रकृति को सत्, असत्, निरसत् कहा गया है। इन तथ्यों से पता चलता है कि चैतन्य से पृथक् चित्त सत्-असत् की कोटियों से बाहर है और यह भी कि शुद्ध या मुक्त चैतन्य में ज्ञान का पूर्ण उत्कर्ष हो सकता है। इसी कारण ज्ञान की ऐतिहासिक परम्परा सम्भव है। *निर्माण चित्तं अधिष्ठाय आसुरये तन्त्रं पुरोवाच*—कपिल मुनि। कपिल मुनि ने निर्माणचित्त के द्वारा आसुरि को उपदेश दिया। इस निर्माणचित्त या निर्माणकाय को बौद्ध भी प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं। इसके

समानान्तर धारणाएँ अवतार या रसूल में मिलती हैं। इन सभी धार्मिक अध्यात्मवादी परम्पराओं में ज्ञान का मूल उपदेश सर्वज्ञ चैतन्य से ही निसृत होता है।

सामान्यतया चेतन स्व की और मन की अपरोक्ष प्रतीति असंदिग्ध होते हुए भी वह उसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती। उसका निश्चित आभास और उसके अस्तित्व में विश्वास तो होता है किन्तु उसके विषय में जिज्ञासा का समाधान नहीं होता। किन्तु यह दोष सिर्फ मानसिक और अपरोक्ष ज्ञान का ही नहीं है, यह दोष ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में ही विद्यमान रहता है। स्वयं इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष नहीं होतीं, इन्द्रिय-गोलकों का ही प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उनके द्वारा जो चैतन्य को संवेदन समर्पित होता है उसके अव्यवहित कारण के रूप में इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए सूक्ष्मतम उपकरणों के होते हुए भी रोगी से पूछताछ किये बिना इन्द्रियों के रोगों की चिकित्सा नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त इन्द्रिय-प्रदत्त संवेदन निर्विकल्प अवस्था में मूकवत् होते हैं जो स्वयं अपने विषय में किसी जिज्ञासा का उत्तर नहीं देते। यह तय नहीं हो पाता कि संवेद द्रव्यगत गुण है, इन्द्रियगत विकार है, या इन दोनों से विलक्षण तीसरे प्रकार की सत्ता है। न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से यह निर्णय हो सकता है कि दृश्यगत सम्बन्ध और सम्बन्धापेक्ष धर्म प्रत्यक्ष संवेद्य हैं अथवा प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प में अध्यवसित होते हैं। वस्तुत: अपरोक्ष ज्ञान में सामान्यतया स्फुटता होते हुए भी परिच्छिन्नता नहीं होती। यह परिच्छिन्नता अध्यवसाय-सहगत शब्दों के द्वारा ही प्रकट होती है। संक्षेप में यह कहना होगा कि हमारी जिज्ञासाएँ जिन पदार्थ-कोटियों को लेकर प्रवृत्त होती हैं उनका उत्तर विकल्पात्मक ज्ञान में ही सम्भव है। क्योंकि वे कोटियाँ स्वयं विकल्पना की अविनाभावी हैं जिनके शब्दात्मक कल्पना से जुड़ने पर ही परोक्ष ज्ञान अस्फुट किन्तु परिच्छिन्न होता है।

व्यावहारिक स्तर पर विकल्प ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को झुठलाता नहीं है प्रत्युत उसे विश्लेषण-संश्लेषण के द्वारा उस व्यवहार के योग्य बनाता है जिसमें एकता और अनेकता से, पृथक्ता और साधारणता से, स्वभाव और परभाव से संसृष्ट जगत् में हम कार्य करते हैं। किन्तु यह कहने की आवश्यकता है कि अपरोक्षता का अभास केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में नहीं होता, न व्यावहारिक-तार्किक विकल्पों की भाषा और अध्यवसाय के प्रकार ही अनुभूति के सम्प्रेषण और विमर्श के एकमात्र साधन हैं। मूल्य-साधना के नाना आयामों में अपरोक्ष अनुभूति के आयाम प्रस्फुटित होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए सम्प्रेषण और विमर्श की भाषा अथवा अन्य संकेत-प्रतीक-प्रकार उनके अनुरूप होते हैं। जैसे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आश्रित ज्ञान की सत्यता क्रियात्मक साधकता से पता चलती है और जैसे तार्किक ज्ञान की सत्यता अन्तर्विरोध

या असंगति के अभाव से पता चलती है ऐसे ही मूल्य-साधना में नाना अन्त:संगतियों की व्यवस्थाएँ होती हैं।

पिछले विवरण में हमने ज्ञान के चार स्तरों का उल्लेख किया है—ऐन्द्रिय, मानसिक, आत्मिक और ईश्वरीय। साम्प्रतिक ज्ञानमीमांसा में अन्तिम दो स्तरों का उल्लेख नहीं होता। वे अब आगमिक या थियोलॉजीकल चर्चा के विषय माने जाते हैं न कि तर्क-प्रतिष्ठित बौद्धिक दर्शनशास्त्र के। पारम्परिक न्याय-शास्त्र में भी वे ज्ञानमीमांसा की पृष्ठभूमि में ही रहते हैं, क्योंकि समीहा-प्रयुक्त मनुष्य की प्रवृत्तियों में साधक और बाधक रूप से विद्यमान सत्य और मिथ्या ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ही प्राय: पर्याप्त माने जाते हैं। यद्यपि आस्तिक दर्शन शब्द-प्रमाण अथवा आगम को धर्माचरण के लिए आवश्यक मानते हैं किन्तु मात्र दृष्ट व्यवहार के लिए नहीं। इन्द्रियाँ, कुछ स्व-संरचनामूलक भ्रान्ति के स्थलों को छोड़ कर, भौतिक वस्तुओं को यथावत् प्रदर्शित करती हैं, यह विश्वास व्यापक रूप से पाया जाता है। संरचनात्मक भ्रान्तियाँ भी नियमानुसार होने के कारण संशोधनीय होती हैं। यह यथावत्ता निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में विशेष रूप से स्वीकृत होती है। प्रत्यक्ष विषय का विकल्पात्मक निरूपण इन्द्रियों के अतिरिक्त मन के व्यापार पर निर्भर करता है, अत: उसमें जोड़-तोड़ और मिलावट के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ सम्भव हैं। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ एक दर्पण के समान वस्तु-स्वभाव को प्रतिबिम्बित करती हैं। अवश्य ही यह प्रतिबिम्ब या प्रतिभास अविश्लेषित होता है, किन्तु यदि वस्तु-स्वभाव में विशेषता या विशेषताएँ होती हैं तो वे अपरिभाषित रूप में उसके निर्विकल्प प्रत्यक्ष के रूप में भी होनी चाहिएँ, जिनके स्मृति और तुलना के आधार पर विश्लेषण से वस्तु-विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार निर्विकल्प में प्रदत्त सामग्री ही सविकल्प का आधार बनती है। स्वयं निर्विकल्प ज्ञान के धर्म-धर्मी के अभाव में अवक्तव्य होने के कारण उसका अस्तित्व स्वसंवेदित होने पर भी उसका स्वरूप अनुमान से ही स्पष्ट होता है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की विषयभूत वस्तु परमार्थ वस्तु है, अथवा वस्तु का प्रतीति-सापेक्ष रूप, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो वस्तु को त्रैलोक्य-व्यावृत्त क्षणिक स्वलक्षण मानते हैं वे जब उसे इन्द्रियगोचर मानते हैं तो वे इन्द्रियों की सीमा का विस्मरण कर देते हैं। सूक्ष्म उपकरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ वस्तु के सूक्ष्म और तात्कालिक रूप का ग्रहण नहीं कर सकती हैं। काल का ग्रहण वैसे भी प्रत्यक्ष न होकर क्रियानुमेय होता है और उपकरणों से लक्षित सूक्ष्म विषयों का काल क्षणिक न होते हुए भी प्राय: कल्पनातीत रूप से स्वल्प होता है। यह असंदिग्ध है कि इन्द्रियाँ क्षण-संतान का ही ग्रहण करती हैं जिसमें स्वलक्षण

और समान्य लक्षण जुड़े होते हैं। दूसरे शब्दों में, वस्तु जिस रूप में इन्दियों को नियमत: प्रतीत होती है वह सन्तान-संघातात्मक होने के कारण द्रव्यवत् होती है। इसीलिए प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प में प्रत्यक्षगृहीत वस्तु ही स्पष्ट रूप से कल्पनापेत हो जाती है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह कि विकल्पसिद्ध वस्तु को स्वभावसिद्ध वस्तु मानना भ्रान्ति है, दूसरा यह कि प्रत्यक्ष और अनुमान को सर्वथा पृथक् करना भी एक भ्रान्ति है। न ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नितान्त विशिष्ट होता है, न विकल्प का विषय सामान्य मात्र।

एक दूसरा प्रश्न यहाँ दुर्निवार है कि क्या इन्द्रियाँ वस्तु का अव्यवहित रूप से प्रत्यक्ष करती हैं और इस प्रत्यक्ष के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिभास में क्या द्रष्टा साक्षात् रूप से वस्तु का द्रष्टा होता है? अथवा ऐन्द्रिय प्रतिभास विषय को द्रष्टा के लिए समर्पित करने में वस्तु के समान पर उससे भिन्न रूप-आकार को प्रस्तुत करता है? दूसरे शब्दों में, क्या प्रत्यक्ष विषय वस्तु का सारूप्य लिए ज्ञानाकार है, अथवा द्रष्टा और वस्तु के बीच कोई मध्यस्थ रूप नहीं है? प्रश्न यह है कि इन्द्रियों की ज्ञान में ठीक भूमिका क्या है? क्या वे चलचित्र-यन्त्र या दर्पण के समान वस्तु-प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती हैं, या वे खिड़की खोल देने के समान सम्मुख दृश्य को निरावरण कर देती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान ने यह तो सिद्ध कर दिया है कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों से सम्पर्क ऊर्जा-तरंगों के अभिघात के द्वारा अथवा द्रव्य-लेश के द्वारा होता है। अक्ष-गोलक में प्रकाश-रश्मियों का सम्पात होता है, कान में ध्वनि-तरंगों का अभिघात होता है, स्पर्श में अणु-संचलन का या ताप की तरंगों का और घ्राण और रसना में द्रव्यांश का सम्पर्क होता है। संक्षेप में, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में दृश्य वस्तु से उद्भूत शक्ति के द्वारा इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है। ये विकार रूप-शब्दादि के बिम्ब द्रष्टा के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इन्द्रियों के द्वारा संचारित साकार परिवर्तन मस्तिष्क में भी साकार स्फुरणों को जन्म देते हैं। इनमें विषय को सूचित करने की शक्ति होती है। तन्त्री में कम्पन स्वरों को कान के लिए व्यक्त करता है, क्योंकि कान में परदा भी अनुरूप कंपन करने लगता है। जैसे दूरदर्शन में एक माध्यम के स्पंदनों से उत्पन्न दूसरे माध्यमों में अनुरूप स्पंदनों की कड़ियाँ जुड़ी रहती हैं ऐसे ही प्रत्यक्ष वस्तु से आरम्भ कर मनोगत ज्ञान-बिम्ब तक सरूप-स्पन्दनों की कड़ियाँ प्रतीत होती हैं। इस कारण शृंखला की मध्यस्थता के कारण द्रष्टा का वस्तु से साक्षात् सम्बन्ध न मानकर परम्परया सम्बन्ध मानना ही उचित प्रतीत होता है और यह युक्ति साकार ज्ञान का ही समर्थन करती है। इस दृष्टि से ज्ञान में आगन्तुक भ्रम भी अनायास समझ में आ सकता है। प्रमाण और प्रमाण-फल की शृंखला का पर्यवसान चैतन्य के लिए

विषय-प्राप्ति के रूप में होता है। विषय बाह्य वस्तु से लेकर बुद्ध्याकार तक शृंखलित है और प्रवाहशील है और चैतन्य इस प्रवाह के बाहर उसका भोक्ता और द्रष्टा है। प्रवाह में अन्तर्व्याप्त रूप से वह भोक्ता है और तटस्थ रूप से द्रष्टा। यह चैतन्य ही आत्मा है। चैतन्यमय आत्मा भौतिक तरंगों की जैविक यन्त्र में झंकार का समवेदी अथवा अनुभावी होने के कारण भौतिकता से सर्वथा विजातीय नहीं हो सकता। न भूत-भौतिक सत्ता चैतन्य से अत्यन्त विजातीय हो सकती है, जिसे वह व्यक्त करती है और जिसके लिए वह विज्ञेय बनती है। सत् ने ही इच्छापूर्वक सृष्टि की और उन सृष्ट अर्थों में अनुप्रवेश किया।

ज्ञान अथवा चैतन्य के विषय में इस प्रकार के मत को समझने में दो प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं। एक तो यह कि चैतन्य का व्यक्तिगत रूप में ही पता चलता है। चैतन्य या ज्ञान का उल्लेख होते ही यह प्रश्न उठता है कि किसका चैतन्य, किसका ज्ञान? दूसरे, चैतन्य या ज्ञान कुछ विकसित प्राणियों का ही धर्म हो सकता है और इस प्रकार विराट् विश्व में वह एक आकस्मिक और तात्कालिक चिंगारी प्रतीत होता है। उसे भूत-भौतिक सत्ता का आधार या नियामक मानना अयथार्थ और हास्यास्पद प्रतीत होता है। इन प्रश्नों का ऊपर भी उल्लेख किया गया था। यहाँ उनका अन्तिम उत्तर देकर उपसंहार करना शेष है। यह सही है कि प्रत्येक मानव-व्यक्ति जैसे अपनी देह से पहचाना जाता है ऐसे ही उसकी निजी अनुभव-धारा होती है। बौद्ध मनीषी कहते हैं कि यह अनुभव-धारा या सन्तान देह के नष्ट होने पर भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। विज्ञानवादी दार्शनिक दिङ्नाग ने सन्तानों की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। किन्तु सन्तान की नियामकता वासना में होती है, मलिन वासना में भेद के साथ अभेद की प्रतीति होना अनिवार्य है। अविद्या की निवृत्ति होने पर अद्वैत-विरोधी द्वैत की निवृत्ति हो जाती है, जैसे कोई अपने और अपने प्रतिबिम्बों के बीच अभेद को समझ ले। तथागत अथवा ईश्वर की तरह वैश्व चैतन्य की रश्मियों के समान ही सन्तान-भेद को समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मानवता में जो विभिन्न चैतन्य-प्रवाह प्राप्त होते हैं वे एक ओर अहं के अज्ञान के कारण, दूसरी ओर देह के माध्यम से चैतन्य व्यक्त होने और कार्य करने के कारण। किन्तु व्यक्तिगत अहंता मानवता का ही एक स्फुरण है और प्राणि-जीवन निर्वैयक्तिक आदर्श जीवन की भूमिका। इस प्रकार का बोध नैतिक बोध में अस्फुट रूप से विद्यमान रहता है। चैतन्य की जो व्यक्तिगत जीवन में प्रतीति होती है उसमें पृथक्ता की प्रतीति उसकी स्वरूपगत नहीं है, इसलिए उस पर विकसित व्यक्ति का आग्रह नहीं रहता। मानव-चैतन्य अपनी पृथक्ता को बृहत्तर चैतन्य को समर्पित करना चाहता है, उस बृहत्तर चैतन्य को मानवता कहा जाये अथवा मनुष्य का साध्य

आदर्श कहा जाये, चाहे मानव-चैतन्य में आभासित पूर्ण चैतन्य या ईश्वर कहा जाये, चैतन्य में अपने विकास और पूर्णता की अभीप्सा रहती है। वह अपने को किसी अचेतन पिण्ड का तात्कालिक साधन नहीं मान सकता। प्राणी में, और अन्ततः भौतिक संघात में चैतन्य की अनित्य उत्पत्ति देखी जाती है, यह सत्य है। किन्तु इससे चैतन्य भौतिक नहीं बन जाता, न उसका मूल्य कम हो जाता है। मिट्टी की मूरत में सौन्दर्य प्रकट होता है, इससे सौन्दर्य मिट्टी के अन्य धर्मों में समाहित नहीं होता। वस्तुतः प्राणि-देह को चैतन्य का सामान्य अर्थ में कारण न मानकर व्यंजक ही मानना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि चैतन्य की दैहिक सत्ता से विलक्षणता प्रसिद्ध है।

वस्तुतः चैतन्य या ज्ञान का स्वरूप उसकी पूर्णता की स्थिति पर विचार करने पर ही समझा जा सकता है। क्षुद्र पशुओं की चेष्टा से लेकर चमत्कारी सिद्धों-मनीषियों और ईश्वर के ज्ञान तक एक दीर्घ सोपान है जिसके मध्य में मानव-चैतन्य स्थित है। उसे एक ओर पशु जीवन का पता है दूसरी ओर उसे मनुष्योत्तर जीवन का आभास है। विभिन्न मूल्य-साधनाओं के आयामों में यह आभास परिपुष्ट होता है। इन आयामों में सौन्दर्य-बुद्धि, नैतिक-बुद्धि और धर्म-बुद्धि प्रधान हैं। बोध के इन प्रकारों को चैतन्य के ज्ञानेतर रूप कहा जाता है, किन्तु यह मनमाने नामकरण की महिमा है। जड़ वस्तु का ज्ञान ज्ञान है, नैतिक विवेक या सौन्दर्य-विवेक ज्ञान नहीं है, यह तभी सही हो सकता है जब नीति और अनीति, सुन्दर और असुन्दर का भेद यादृच्छिक हो।

क्रमश...

ए 90, अलकापुरी,
डाकघर भेल,
भोपाल-462024

संस्कृति, विज्ञान और दर्शन[1]

यशदेव शल्य

'दर्शन' और 'विज्ञान' ये 'संस्कृति' के समस्तरीय पद नहीं हैं जैसे 'पत्ते', 'शाखाएं' और 'तना' ये 'वृक्ष' के समस्तरीय पद नहीं हैं। पत्ते आदि वृक्ष के अवयव और वृक्ष अवयवी है। बहुत से दार्शनिक अवयवी का अवयवों से पृथक् या ऊपर कोई अस्तित्व नहीं मानते, हमारे देश में बौद्ध इसके मूलगामी प्रतिपादक हैं। किन्तु बहुत से दार्शनिक अवयवी का अवयवों से ऊपर या अतिरिक्त अस्तित्व मानते हैं। हम भी ऐसा ही मानते हैं। संस्कृति समाज की सम्पूर्ण अन्तश्चेतना के : उसकी अभिवृत्तियों, मूल्यों, व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के : रूपों और उनके साथ जुड़े पुरुषार्थों को तथा समाज की भावनात्मक, ज्ञानात्मक और लौकिक तथा पारमार्थिक पर्येषणाओं को, दूसरे शब्दों में उसके काव्य, कला, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, धर्म तथा दर्शन इन सबको, अवयवों के रूप में समाहित करती है। संस्कृत का एक श्लोक है–

आकारै: इंगितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्त्र विकारेण, ज्ञायते अन्तर्गतं मन:।।

अर्थात् व्यक्ति की मुख-मुद्रा, उसके देखने-बोलने के ढंग और दूसरी चेष्टाओं से, उसके मन के भावों का पता चल जाता है। इसे उलट कर ऐसा भी कह सकते हैं कि व्यक्ति की जैसी मानसिकता होती है, जैसी उसकी रुचियां और भावनाएं आदि होती हैं, वैसी ही उसकी चेष्टाएं और आचरण आदि होते हैं। यही बात संस्कृति के, या कहें किसी समाज के व्यवहार और मूल्यों-पर्येषणाओं के लिए कही जा सकती है। ये समाज की अन्तर्गत मानसिकता के ज्ञापक होते हैं। इस प्रकार विज्ञान और दर्शन संस्कृति के अंग होते हैं–उसकी आत्माभिव्यक्ति के दो रूप।

यहां समाज की मानसिकता : समाज-मन : की बात को लेकर सन्देह हो सकता है, कि क्या इसका कोई वास्तविक वाच्य भी हो सकता है या कि यह केवल एक लाक्षणिक पद ही है? हम 'व्यक्ति-मन' की बात सहज रूप से समझते हैं–अपने मन के प्रमाण से, किन्तु समाज-मन की बात समझना सहज नहीं लगता। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों के समूह, उनके सम्बन्ध, इस रूप में ही दिखायी देता है, इनसे पृथक् कोई समाज संज्ञक बृहद् व्यक्ति दिखायी नहीं देता। और जो दिखायी नहीं देता

---

1. भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा 2007 के अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन-दिवस के उपलक्ष में आयोजित राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन विभाग में दिया गया व्याख्यान।

वह 'है' कैसे ? इस 'दिखायी नहीं देने' से हम ईश्वर तक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते! किन्तु इस मान्यता के पीछे कोई युक्ति नहीं है। यह सही है कि व्यक्ति-देह के समान कोई समाज-देह नहीं होती, किन्तु व्यक्ति-देह ही एक-साथ व्यक्ति-मन और समाज-मन दोनों की आश्रय हो सकती है।

यहाँ इस बात को कुछ समझना होगा–'मन' का क्या अर्थ है ? आवेग, भावनाएं, कार्य-प्रवृत्ति, अभिवृत्ति, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, विचार, आकांक्षाएं और आदर्श या मूल्य-बोध आदि ये मनस्क्रियाएं या मनोवृत्तियां हैं और इनके अधिष्ठान को मन कहा जाता है। यह अधिष्ठान अधिष्ठित वस्तु से पृथक् क्या होता है, इस पर हम यहां नहीं जाएंगे, यहां हम केवल बौद्धों द्वारा इसके अस्वीकार का स्मरण दिलाएंगे। बौद्धों के नैरात्म्यवाद का यही अर्थ है–धर्मों से पृथक् उनके अधिष्ठान रूप में किसी धर्मी के अस्तित्व का अस्वीकार। अब, ये मनस्क्रियाएं वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक दोनों आयामों में होती हैं–'मैं' अनन्य रूप से व्यक्ति-विषयक शब्द है किन्तु सर्वनाम है, और इस प्रकार 'मैं दु:खी हूँ' यह अनन्यरूप से मुझ विषयक नहीं है, क्योंकि ठीक इसी वाक्य का प्रयोग दूसरे के द्वारा होने पर भी मैं इसकी वाचकता को और इसके वाच्य को समझता हूँ। इससे आगे जाकर यहां तक कहा जा सकता है कि हमारी देह तक नितांत वैयक्तिक नहीं होती, वह वैयक्तिक होने के साथ-साथ जातीय भी होती है। यही बात मन के लिए भी है। मानव-मन : संज्ञान, बुद्धि, भावनाएं और इनका अधिष्ठान : श्वान-मन या बिलाव-मन से जातीय रूप से भिन्न होता है। अब, क्योंकि व्यक्ति ठोस सत्ता के रूप में दिखायी देता है इसलिए हम देह को ही अस्तित्ववान् मानते हैं और उसे वैयक्तिक मानते हैं, जाति को नहीं मानते। किन्तु वास्तव में तो जाति का अस्तित्व भी व्यक्ति के अस्तित्व में अन्तर्निहित रहता है। प्रत्यक्षगम्यता को वास्तवता के लिए अनिवार्य मानना केवल हमारा पूर्वाग्रह है, इसीसे हमारे नैयायिक जाति की सत्ता स्वीकार करते हुए उसे प्रत्यक्ष-विषय मानते हैं और अन्य सम्प्रदाय जाति को केवल काल्पनिक मानते हैं। मन की वैयक्तिकता भी मनुष्य में जितनी वास्तव होती है पशुओं में नहीं होती, कृमियों में तो लगभग नगण्य ही होती है। इंस्टिंक्ट (सहज प्रवृत्ति) जीव की अतिवैयक्तिक प्रवर्तक होती है, मधुमक्खी-व्यक्ति चैत्त रूप से छत्ते की अंग मात्र होती है, उसका व्यक्ति-चित्त छत्ता-चित्त का अंगमात्र होता है। व्यक्ति-चिड़िया घोंसला जातीय चित्त की अधीनता में बनाती है, वह छत्ता बनाने-नहीं बनाने और अन्य प्रकार का बनाने का निर्णय नहीं कर सकती। व्यक्तित्व केवल मनुष्य में होता है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट मनोविग्रह होता है, वह वैयक्तिक रूप से निर्णय कर सकता है। उसके इस व्यक्तित्व का आधार उसका अस्मिता-बोध होता है जो उसकी चेतना के आत्मचेतन होने से आविर्भूत होता है। किन्तु यह अस्मिताबोध जिस आत्मचेतना से प्रतिफलित होता है वह स्वरूपत: प्रत्यय-दर्शी और इस प्रकार सामान्य विषयक होती है–अपनी अस्मिता के सहित। उसका यह

अहं सार्वनामिक पद 'मैं' का वाच्य होता है। यह भाषा की बाध्यता नहीं है, यह उसके अस्तित्व का ही स्वरूप है।[2] मानव-चेतना का स्वरूपत: सामान्यात्मक होना उसकी भाषा से भी सिद्ध है। उसकी चेतना भाषा के माध्यम से ही संचरित होती है, अथवा कहें मानवीय भाषा मानवीय चेतना की प्रत्यय-ग्राहिता के कारण ही भाषा-रूप में आविर्भूत हो पाती है, और परिणामत: यह भाषा अशेषत: सामान्यवाची होती है–मनुष्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों को भी नाम के बिना नहीं देख सकता और ये नाम अशेषत: सामान्यवाची होते हैं। इस तरह व्यक्ति की हमारी जो अवधारणा उसे अनिवार्यत: और अशेषत: देही मानने और देह को देश में अवस्थित ठोस वस्तु के रूप में देखने के कारण है वह युक्तियुक्त नहीं है। वास्तवता या सत्ता-विषयक यह भ्रान्ति सामान्य जन में ही व्याप्त नहीं है, दार्शनिकों में भी बहुत व्यापक है। दर्शन में अनुभववादियों का नाममात्रवाद, बौद्धों का नैरात्म्यवाद और अपोहवाद, नैयायिकों का जाति-प्रत्यक्षवाद, विट्गेंस्टाइन का पारिवारिक अनुरूपतावाद (फैमिली-रिज़ेंब्लेंस) ये सब इसी भ्रान्ति के द्योतक हैं। इस प्रकार संस्कृति को व्यक्ति-समूहों में 'इंगित-चेष्टागत अनुरूपता' के जैसा कुछ देखना युक्ति-संगत नहीं है। अतीन्द्रिय अस्तित्व का स्पष्टतम रूप मनुष्य की भाषा में देखा जा सकता है–भाषा व्यक्तियों के बोलने से 'दृश्य' : व्यक्त : होती है किन्तु अपनी सत्ता में वह व्यक्तियों के वचनों का संकलन नहीं होती, ये वचन केवल उसकी अभिव्यक्ति के एक रूप होते हैं। भाषा को 'सामाजिक चेतना का प्रत्यय-धर्मी व्योम' कहा जा सकता है और यह अपनी सत्ता में उतना ही वास्तव होता है जितना बोला गया शब्द। बल्कि बोले गए शब्द की वास्तवता बोलने से परे स्थित भाषा से होती है।

इस पर कहा जा सकता है कि 'समाज-मन' का अस्तित्व अतिवैयक्तिक सामाजिक अस्तित्व को ही सिद्ध करता है, यह संस्कृति के स्वरूप को निदर्शित नहीं करता, जैसे व्यक्ति-मन का अस्तित्व मानव-व्यक्ति के मानव के रूप में स्वरूप को निदर्शित नहीं करता। अब 'व्यक्ति' शब्द को ही लें। यह 'मनुष्य' के विशेषण के रूप में तो प्रयुक्त होता है, 'गाय', या 'बंदर' या 'मक्खी' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं होता, जबकि उनमें भी व्यक्ति-जाति का भेद तो होता ही है। वहां 'व्यक्ति' शब्द के बजाय 'व्यष्टि' शब्द का प्रयोग होता है। यह भेद आधारभूत है। इस भेद की व्याख्या के लिए कुछ विस्तार में जाना आवश्यक है, जिसमें हम यहां नहीं जाएंगे। यहां हम केवल इतना ही कहेंगे कि व्यक्ति अपने मूल्यों, विवेक और संकल्प से परिभाषित होता है, जिनकी क्षीणता उसमें व्यक्तित्व की क्षीणता की पर्याय होती है। अब, सबसे बड़ा और सब मूल्यों में आधारभूत मूल्य निरहंकारता है और निरहंकारता

---

2. इस पर विस्तृत विचार के लिए द्रष्टव्य हमारा लेख 'आत्म-चिन्तन', **तत्त्व-चिन्तन**, (दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 200) में संकलित। 'चित् की आत्मगवेषणा', **उन्मीलन** जनवरी तथा जुलाई 2007 अंकों में द्रष्टव्य।

व्यक्ति की सर्वात्मता में प्रतिष्ठा का पर्याय है। यह सबसे बड़ा मूल्य इसलिए भी है क्योंकि यह मनुष्य को पाशव व्यष्टिता से ऊपर उठाकर व्यक्तित्व देता है। अब, मूल्य क्या है? इसकी एकमात्र उपयुक्त परिभाषा हो सकती है–'आत्मा के स्वरूप की अनुरूपता की सिद्धि।' इस पर प्रश्न हो सकता है कि 'आत्मा का स्वरूप क्या है?' इसका कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। सबसे समीचीन उत्तर हो सकता है कि विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न संस्कृतियां आत्मा के किसी स्वरूप की कल्पना : साक्षात्कार : के साथ ही प्रवृत्त होते हैं, यह कल्पित स्वरूप ही उनके : व्यक्ति और समाज के : व्यक्तित्व और संस्कृति का अभियोजक, अनुशास्ता और निरूपक होता है। यह स्वरूप सिद्ध नहीं होकर साध्य होता है। हम आज प्रायः ही सुनते हैं कि "भारत अपनी संस्कृति से भ्रष्ट हो रहा है।" इसका अर्थ होता है कि भारत का स्वरूप वह है जो उसके सांस्कृतिक मूल्य हैं और उनसे भ्रष्टता उसका अपने स्वरूप के अनुरूप नहीं रह पाना है। अब, व्यक्ति के लिए भी कहा जाता है कि वह स्वरूप-भ्रष्ट है। इसका अर्थ होता है कि वह अपने को जिस आदर्श से मापता है उसके अनुसार वह अपनी प्रवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं, कार्यों आदि को नियुक्त नहीं कर पाता। इसे दूसरे शब्दों में उसका अपने अनात्म का वशवर्ती होना, अपना अपने अनधीन होना, संकल्प में दुर्बल होना, भी कह सकते हैं। यही अर्थ किसी समाज को आत्म-भ्रष्ट कहने का भी होता है–यह सामाजिक बिखराव, अनुशासन-हीनता, मूल्य-हीनता आदि के रूप में लक्षित होता है।

समाज की संकल्पवत्ता और मूल्यानुसरण उसमें काव्य-कलाओं, विज्ञान, शास्त्र और दर्शन आदि सृजनात्मक तथा ज्ञानात्मक अनुशीलनों के रूप में व्यक्त होते हैं। ये अनुशीलन समाज की संकल्प-ऊर्जा को व्यक्त करते हैं और सदसद्-विवेक तथा सत्यानुसन्धान के माध्यम बनते हैं। द्रष्टव्य है कि ये सभी अनुशीलन मनुष्य से बहुत दूर तक सांसारिक सुख-समृद्धि से उपरति की अपेक्षा करते हैं, वह इनमें ऐन्द्रिक सुखों से परे बौद्धिक और आध्यात्मिक सत्यों का अन्वेषण करता है, यह बात दूसरी है कि वह इसमें विपथों में भटक जाय! यह बात उसके वैयक्तिक और सामाजिक दोनों आयामों में दृष्टिगत होती है। भारत में प्राचीन वाममार्ग, आधुनिक ऐन्द्रिकतावाद, जिसकी निष्पत्ति हम आज के बाज़ारवाद में देख रहे हैं, तथा प्राचीन भारतीय सन्न्यासवाद अथवा मुस्लिम एवं ईसाई धर्मान्धितावाद आदि-आदि बहुत से ऐसे अनुसरण हैं जो सामाजिक भटकावों के द्योतक कहे जा सकते हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि इन सबका मूल मनुष्य की परमार्थ-दृष्टि की दिग्भ्रांतता में होता है। बहुत बार समाज मनोदौर्बल्य से भी ग्रस्त होते हैं जो उनके बिखराव तथा अपराध-बाहुल्य आदि के रूप में दृष्टिगत होता है।

मनुष्य के ज्ञानात्मक अनुशीलन अनेक दिशाओं में अग्रसर होते हैं–शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, दर्शन ये इस अनुशीलन के कुछ प्रमुख रूप कहे जा सकते हैं। यों कलाएं, धर्म

और पुराण भी ज्ञानात्मक अनुशीलन ही कहे जा सकते हैं, किन्तु ये अनुशीलन विज्ञान-दर्शन आदि से प्रकारत: भिन्न हैं और सामान्यत: ज्ञानात्मक नहीं कहे जाते। पीछे कुछ समय से पश्चिम के लोगों ने दर्शन को भी इस क्षेत्र से बहिष्कृत कर रखा है और पश्चिम के अनुकारी बहुत से हमारे लोगों ने भी कर रखा है। किन्तु यहां इस प्रश्न को छोड़ा जा सकता है। इसके विपरीत हम दर्शन को ज्ञान का उच्चतम अनुध्यायी समझते हैं, जिस मान्यता के औचित्य पर हम आगे विचार करेंगे। इसके विपरीत काव्य और कलाओं को इससे पृथक् रखा जा सकता है। इसका औचित्य यह है कि शास्त्र, विज्ञान और दर्शन आदि जबकि विषयपरक होते हैं, काव्यादि विषयिपरक होते हैं।[3] किन्तु द्रष्टव्य है कि सांस्कृतिक कर्म या सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के रूप में काव्य विज्ञान से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं और दर्शन से भी इन्हें कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यों पिछले समयों में काव्य और धर्म में पारस्परिकता भी रही है और दर्शन को काव्य अपने अन्तर्गतार्थ रूप में लेकर चलता रहा है, किन्तु तब भी ये परस्पर पृथक् क्षेत्र ही हैं। यहां हम विज्ञान और दर्शन के स्वरूप पर संक्षेप में विचार करेंगे।

विज्ञान को स्थूल रूप से प्रकृति को मनुष्य के व्यावहारिक उपयोग के लिए समझने और उसे उपयोग में लाने के कौशल के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रकृति को इन्द्रियों के जड़ विषय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु जब हम जीवों और मनुष्यों को भी नियोजनीय वस्तुओं के रूप में समझने का प्रयत्न करते हैं तब ये भी विज्ञान-विषय :जड़-रूप: हो जाते हैं। प्राणि-विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजविज्ञान आदि ऐसे ही विज्ञान हैं। किन्तु विज्ञान का आदर्श विषय जड़ प्रकृति ही होती है, दूसरे विषयों को हम उनके प्रति दृष्टि बदल कर ही विज्ञान के विषय बनाते हैं, और कहा जा सकता है कि इसमें हम उनके स्वरूप की समझ खो देते हैं। उदाहरणत: कहा जा सकता है कि प्राणी की अन्तरंग समझ काव्य-धर्मी ही हो सकती है, समाज तो स्पष्टत: ही कथा, कहानी और नाटक के रूप में ही अपनी अन्तरंगता में निदर्शित होता है। इसके विपरीत जड़ प्रकृति अन्तरंगता से नितान्त शून्य बहिरंग मात्र होती है। काव्य जब उसे विषय बनाता है तब उसके स्वरूप को सप्रयोजन आवृत कर देखता है, जिस प्रकार विज्ञान प्राणी, और विशेषत: मनुष्य को, उसकी अन्तरंगता से विच्छिन्न कर देखता है।

किन्तु यहां एक मोड़ लेना आवश्यक है–ज्ञान के लिए विषयकरण आवश्यक होता है। हम स्वयं अपने को भी जानने के लिए अपने से अलग होकर अपना विषयकरण करते हैं। यही आत्मज्ञान कहलाता है। यदि हम अपने को अपने से अलग होकर क्रोध, लोभ, मोह आदि अवस्थाओं में नहीं देखें तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि हममें कोई दोष है, कि हम कर्त्तव्य-च्युत हुए, उससे भी अधिक, कि हम आत्म-च्युत हुए। इसी की उपमा पर हम अन्य व्यक्तियों की विषयिता को देखते हैं।

---

3. द्रष्टव्य–**मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में कला विषयक अध्याय तथा **काव्य-विमर्श** पुस्तक ।

यह ठीक है, किन्तु यह विषयकरण वैज्ञानिक विषयकरण से भिन्न प्रकार का होता है। वास्तव में अन्य व्यक्ति को हम उसके साथ तादात्म्य साधे बिना ठीक से नहीं समझ सकते, जैसे अपने को अपने से ताटस्थ्य साधे बिना नहीं समझ सकते। इस प्रकार, अन्य को समझने के लिए हमारे लिए उसके साथ तादात्म्य साध कर उस पर से ताटस्थ्य साधना होता है। हम अपने विषयकरण में अपनी विषयिता के साथ अपने से बाहर आते हैं और अन्य के विषयकरण में उसकी विषयता के द्वार से उसकी विषयिता में प्रवेश कर उससे बाहर आते हैं। कथा इसी विधि को अपनाती है, इस अन्तर के साथ कि वहां सामान्य विषयी विशिष्टता में अवतरित होता है–कुछ वैसे ही जैसे अध्यापक द्वारा ब्लैक बोर्ड पर बनाया त्रिकोण या चतुष्कोण। कथा में कथाकार पर-काय प्रवेश कर 'पर के अपनेपन' का अवलोकन करता है, जो पर 'कोई भी पर' होता है, यद्यपि विशिष्ट विषयिता के माध्यम से ही वैसा होता है। जैसे, कथा के राम और रावण उतने ही विशिष्ट होते हैं जितने अपने जीवन में और इस प्रकार उनके राग-द्वेष भी। इसके विपरीत विज्ञान शुद्ध अविषयिता में अपने को प्रतिष्ठित करता है। इसीसे उसका आदर्श क्षेत्र जड़ प्रकृति होती है।

ज्ञान की यह विज्ञानात्मक विधा मनुष्य के साथ सदा से ही रही है, क्योंकि मनुष्य को विवेकशील या भाषा-भाषी के समान उपकरण-निर्माता के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। मानव-सभ्यताओं को प्रस्तर-युगीन, ताम्र-युगीन, लौह-युगीन आदि के रूप में जो परिभाषित किया जाता है उसमें उसके मानव के रूप में विकास का मानदंड उसका उपकरण-निर्माण-कौशल ही होता है। आरंभ में मनुष्य के लिए प्रकृति के तीन रूप थे–जड़ रूप, जादुई रूप और देव-रूप। इनमें केवल उसका प्रथम रूप ही विज्ञान-विषय था, जो विषय शुद्ध रूप से विषयपरक कुछ निश्चित नियमों के अधीन था। इन नियमों में कारण-कार्य-नियम प्रमुख कहा जा सकता है। इस नियम का साधन के रूप में उपयोग उपकरण-निर्माण का प्रथम और आधारभूत चरण कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्य जड़ जगत् के नियमों और उपकरण-निर्माण में इन नियमों के उपयोग के ज्ञान में निरन्तर आगे बढ़ा, जिस प्रगति में उसने खगोल-विद्या, अंकगणित, ज्यामिति आदि का आविष्कार-अनुसन्धान किया। अंकगणित को ही लें। इसमें अंक का मूल प्रत्यक्षगत वस्तुओं की परस्पर पृथक् और व्यावर्तक उपस्थिति से उनकी व्यावर्तकता का उद्ग्रहण निहित है, अन्यथा 'दो भैंसें', 'एक गाय और एक भैंस', 'भैंस की आंखें' ये समान द्वित्व नहीं हैं, न इनका पार्थक्य या व्यावर्तन ही एक-जैसा है। किन्तु इनके इन भेदों की उपेक्षा कर इनकी व्यावर्तकता का उद्ग्रहण बौद्धिकता के उत्कर्ष की अपेक्षा करता है। फिर इनका योग और घटाव और इनका नामकरण ये सब उत्कर्ष के अगले सोपानों के द्योतक हैं। इस उत्कर्ष-क्रम से अंकगणित-विद्या का आविर्भाव यह एक अद्भुत बात है। बुद्धि की यह अद्भुत उपलब्धि ही दृश्य विषयों के वर्गीकरण, उनके उपयोग के नियमों के उद्ग्रहण और उन उद्गृहीत नियमों के आधार पर विषयों के उपादानीकरण की आधार बनती है।

किन्तु विज्ञान के इस रूप में इधर सत्रहवीं शताब्दी के यूरोप में तब आमूल क्रान्ति घटित हुई जब उपकरण आगे अन्य उपकरणों के निर्माण में कारण के रूप में प्रयुक्त होने लगे और इस प्रकार स्वतःचालित यंत्र बने। किन्तु विज्ञान का एक दूसरा आयाम है जो इस उपकरण-निर्माण से अधिक आधारभूत है, वह है इस उपादानात्मक भौतिक जगत् के स्वरूप का ज्ञान। इसकी जिज्ञासा भी मनुष्य में बहुत प्राचीनकाल से देखी जा सकती है। हमारे यहां के वैशेषिक दर्शन में इसका पर्याप्त विकसित रूप दृष्टिगत होता है। खागोल शास्त्र इसका दूसरा रूप है।

अब, यह भौतिक जगत् क्या है? इसकी आरंभिक परिभाषा की जा सकती है–ऐन्द्रिय विषय। किन्तु ऐन्द्रिय विषय अनेक आयाम ले सकता है। इसका एक आयाम जड़ स्वायत्त वस्तुता का है। यह वस्तु विषय-रूप में प्रत्यक्ष किन्तु स्वरूपतः प्रत्यक्ष-निरपेक्ष :स्व-प्रतिष्ठ : होती है। आँखों के सामने होने पर पत्थर दृष्टि-विषय है किन्तु आँखों से परे होने पर स्वप्रतिष्ठ वस्तु है। किन्तु यह इन्द्रिय क्या है – भौतिक या अभौतिक? यदि यह अभौतिक है तो यह विज्ञान की विषय नहीं हो सकती। यहां एक बहुत प्रतिष्ठित अमरीकी दार्शनिक क्वाइन को उद्धृत करना उपयोगी होगा। उसके अनुसार ''मैं भौतिक विश्व में अवस्थित एक भौतिक वस्तु हूँ। इस भौतिक विश्व की कुछ शक्तियां मेरी सतह में प्रविष्ट होती हैं। प्रकाश-रश्मियां मेरे दृष्टि-पटल (रेटिना) पर आघात करती हैं, अणु (मॉलीक्यूल्स) मेरे श्रोत्र-पटल और अंगुलाग्रों पर आघात करते हैं, मैं संरचित (स्ट्रक्चर्ड) वायुवीचियों को प्रसारित करते हुए प्रत्याघात करता हूँ। ये वीचियां मेज़ों, कुर्सियों, व्यक्तियों, अणुओं, प्रकाश-रश्मियों, दृष्टि-पटलों, वास्तव संख्याओं (रीयल नंबर्स), असीम वर्गों, हर्ष तथा विषाद और शुभ तथा अशुभ के सम्बन्ध में वार्तालाप का रूप लेती हैं।''[4] अब, इस प्रतिपादन को यदि ध्यान से देखें तो 'भौतिक' इन्द्रिय-विषय नहीं रहता, क्योंकि इसके अनुसार इन्द्रिय स्वयं भौतिक है, परिणामतः वह अपनी विषय स्वयं नहीं हो सकती। यह अन्यथा भी सही है–ज्ञानेन्द्रियों के विषय केवल रूप-रसादि गुण ही हो सकते हैं, गुणी : इनकी आश्रय-भूत वस्तु : नहीं हो सकती। तब फिर भौतिक क्या है? प्रकाश-रश्मियां भौतिक हैं किन्तु प्रकाश-रूप में नहीं, क्योंकि प्रकाश तो चाक्षुष संवेदों में प्रतिफलित रूप-गुण हैं, भौतिक प्रकाश-रश्मियां प्रकाश-रहित केवल गणितीय राशियां हैं। अब, यद्यपि यह भौतिक वस्तु ज्ञानेन्द्रियों में संवेदित और कर्मेन्द्रियों से नियोजित होकर ही प्रमाणित होती है किन्तु अपने अतीन्द्रिय भौतिक रूप में यह गणितीय राशियों के माध्यम से अद्भुत और चमत्कारी ज्ञान की विषय बनती है और हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की अपार शक्ति और विपुल वैभव में प्रतिफलित होती है।

---

4. विलर्ड वान् ओर्मान् क्वाइन –'दि स्कोप एंड लेंग्वेज ऑफ साइंस', **ब्रिटिश जर्नल फॉर दि फिलोसोफी ऑफ साइंस**, 1957, पृ. 91

अब, इसे यदि हम केवल इस सीमा में रखकर ही इसका अनुसंधान करते हैं तो निश्चय ही यह अपार ज्ञान और उपयोग का द्वार हमारे लिए खोलता है, किन्तु यदि यह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर ज्ञान और सत्ता के सम्पूर्ण क्षेत्र पर व्यापक होता है और सत् होने, उससे आगे एक मात्र सत् होने का दावा करता है तो यह दर्शन के क्षेत्र में अतिक्रमण करता है और मनुष्य की अमानुषिकता का हेतु बनता है। 18वीं से 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इसमें इस अतिक्रमण की प्रवृत्ति भरपूर दिखायी देती है, जिसकी पराकाष्ठा 20वीं शताब्दी के आरंभ में आंग्ल-अमरीकी दर्शन में देखी जा सकती है। क्वाइन का ऊपर उद्धृत प्रतिपादन इसी अतिक्रमण का द्योतक है, और क्वाइन समकालीन यूरो-अमरीकी संस्कृति का एक पुरोधा दार्शनिक है। किन्तु यह दृष्टि कितनी विपन्न और घातक है यह यूरोप को भी 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरंभ में ही दिखायी देने लगा था, यद्यपि इससे उबर कर भी यूरोप किसी कूल-किनारे पर पहुँच पाया, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु विज्ञान की दृष्टि के रूप में यह एक सम्यक् दृष्टि है और अपनी दृष्टि को विज्ञान सप्रयोजन इस लक्ष्मण-रेखा के भीतर रखता है, क्योंकि इससे उसका प्रयोजन अधिक सुचारुता से सिद्ध होता है। वह देह को चित्त और आत्मा के वाहक और मस्तिक को विचार के यंत्र के रूप में नहीं देखता बल्कि देह को ही चित्त और आत्मा तथा मस्तिष्क को ही विचारक मानकर चलता है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग सप्रयोजन अपनायी गयी इस दृष्टि को अपनी दार्शनिक दृष्टि ही बना लेते हैं। क्वाइन और राइल जैसे महानुभाव उन्हीं में से हैं। यहां कहा जा सकता है कि विज्ञान ने अपनी इस दृष्टि के द्वारा अद्भुत सफलता प्राप्त की है–वैचारिक (थ्योरेटिकल) और व्यावहारिक (टेक्नोलोजीकल) दोनों पक्षों में, दर्शन तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा है, एक भी प्रश्न नहीं है जिसका दर्शन समाधान कर पाया हो। इसका मूल विषय परमार्थ : परम सत् : का स्वरूप रहा है, या दूसरे भी विषय–जैसे ज्ञान का स्वरूप, या सदसद् का स्वरूप, या इनमें विवेक का आधार–रहे हैं, इनमें कौन सा विषय है जिसमें यह हज़ारों वर्षों के विवेचनों–व्याख्याओं के बाद भी एक कदम भी आगे बढ़ा है? बल्कि उसके लिए इन विषयक विचारों के आद्य प्रवर्तक : औपनिषद ऋषि, बुद्ध या महावीर, या सुकरात–प्लेटो-अरस्तू : ही आज भी प्रमाण बने हुए हैं। तो इस गवेषणा, या मत्थापच्ची कहें, का अर्थ क्या? यह सन्देह पहले काँट में और अनंतर बीसवीं शताब्दी के आरंभ के आंग्ल दार्शनिकों–रसल, मूर आदि–में उठा भी था और फिर उनके अनुयायियों ने दर्शन को ज्ञानविषयक मानना ही छोड़ दिया। उन्होंने ज्ञान का क्षेत्र केवल विज्ञान को ही मान लिया और दर्शन का कार्य केवल वैज्ञानिकों के प्रतिपादनों का विवेचन मान लिया, उसी प्रकार जैसे भारतीय दार्शनिकों ने श्रुति या आगम को माना था। किन्तु यह दृष्टि मूलगामी दोष से उपहित है। इन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्षमूलक ही हो सकता है और भाषा केवल इन्द्रियार्थों की वाचक ही हो सकती है। (यहां द्रष्टव्य है कि भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि भी यही कही जा सकती है, इस भेद के साथ कि उनके लिए ज्ञान : वस्तु-साक्षात्कार

: विज्ञान से भिन्न आर्ष-प्रज्ञा द्वारा लभ्य है। दर्शन का कार्य उनके लिए भी उस साक्षात्कार का विवेचन ही था।) यह सब कमाल की मतान्धता थी और यूरोप के उस काल के बड़े-बड़े विचारक इस दृष्टि-हीनता के रोग से ग्रस्त थे। इस दृष्टि से आर्षप्रमाणवादी भारतीय दार्शनिक भी दृष्टि-दोषग्रस्त ही कहे जा सकते हैं, किन्तु तब भी उनका प्रमा-क्षेत्र आर्ष प्रज्ञा होने से अपनी व्यापकता-क्षेत्र के और गहनता में तो अपार है, विज्ञान-प्रमाणवादियों के क्षेत्र के समान नितान्त विपन्न नहीं।

किन्तु थोड़ा ध्यान से देखें तो हम पायेंगे कि गवेष्य तो इन विज्ञान-दार्शनिकों का भी परमार्थ ही था–सत्ता का स्वरूप, जगत् का स्वरूप, ज्ञान का स्वरूप, सदसद् का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप आदि। ये दार्शनिक इन पर विचार से यदि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ज्ञान की साधन केवल इन्द्रियां ही हैं, जगत् संज्ञक कोई 'वस्तु' नहीं है और न सदसद्-बोध किसी वास्तव अर्थ का बोधक होता है, तो यह उनका दार्शनिक निष्कर्ष है, वैज्ञानिक दृष्टि या निष्कर्ष नहीं। किन्तु उनके इस विचार का रूप तो वही था! परमार्थ विचार! अब, अपनी समझ में ये दार्शनिक एक आत्यंतिक समाधान पर पहुँच गये थे। किन्तु तब उनका यह समाधान कि 'ज्ञान की साधन केवल इन्द्रियां ही हैं' स्वयं निराधार हो जाता है, क्योंकि यह प्रतिज्ञप्ति इन्द्रियार्थ वाचक नहीं है। यह प्रश्न उन इन्द्रियार्थ सद्वादी विचारकों के आगे प्रस्तुत हुआ भी था कि ''यदि भाषा के सार्थक वचन केवल इन्द्रियार्थ वाचक ही हो सकते हैं तो स्वयं यह वाक्य कि 'केवल इन्द्रियार्थ वाचक वाक्य ही सद्वाचक हैं' कैसे सार्थक होगा, क्योंकि यह तो एक सिद्धान्त वाक्य है, इन्द्रियार्थ-वाचक वाक्य नहीं है।'' किन्तु उनका यही एक वाक्य दार्शनिक वाक्य है, इन्द्रियार्थ-वाचक वाक्य तो दार्शनिक वाक्य नहीं होते!

अब, यह वाक्य इन्द्रियार्थ-वाचक वाक्यों से किस रूप में भिन्न है?

यह इस रूप में भिन्न है कि यह इन्द्रियोन्मुखता से विनिवर्तित : आत्मोन्मुख - प्रत्यङ्मुखः दृष्टि विषयक है। अब, उपर्युक्त : ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादी, विज्ञानवादी : दार्शनिकों का दावा है कि यह दृष्टि कोई ज्ञापक दृष्टि नहीं है। किन्तु क्यों? मनुष्य की तो पशु से विशेषता और उत्कृष्टता ही इस बात में है कि उसकी चेतना आत्मचेतन, प्रत्यङ्मुख, चेतना है, वह इन्द्रियार्थों को भी अतीन्द्रियार्थों के माध्यम से ही देखती है! यही चेतना प्रत्यङ्मुखता के उन्नततर स्तरों से 'जगत्', 'आत्मा', 'सत्ता', 'श्रेयस्' आदि 'वस्तुओं' को देखती है। किन्तु ये 'वस्तुएँ' इन्द्रियार्थों से नितान्त भिन्न भी हैं–इन्द्रियार्थ जबकि अशेषतः बहिरंग और इस प्रकार अशेषतः प्रदत्त होते हैं, ये अर्थ अन्तरंग और इस प्रकार ईषत् प्रकट किन्तु अपारतः गुह्य होते हैं। किन्तु जैसाकि हमने ऊपर कहा, इस चेतना को इन्द्रियार्थ भी साक्षात् प्रस्तुत नहीं होकर प्रत्यङ्मुखीनतया :अध्यवसायात्मकतया : ही प्रस्तुत होते हैं, इसलिए ये भी उपादान-उपादेय रूप होकर स्वरूपावगाहन के विषय हो जाते हैं और भौतिकता के व्यंजक होकर ये विज्ञान के लिए अनन्ततः अनुसन्धेय हो जाते हैं। जहां विवेच्य और अनुसंधेय विषय चेतना के

अपने गुण-धर्म होते हैं उनकी गुह्यता की तो फिर थाह ही कहां मिल सकती है? यहां इस प्रकार के बहुत छोटे-छोटे प्रश्न देखें–कविता क्या है? प्रेम क्या है? मैत्री क्या है? हममें ईर्ष्या और द्वेष जैसे भाव क्यों उपजते हैं? इन भावों की अवांछनीयता जानते हुए भी हम इनसे उबर क्यों नहीं पाते? इनकी अवांछनीयता किस बात में है?

इन प्रश्नों के विषय प्रकटत: स्पष्ट हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध हमारे अपने कर्म और प्रतिपल के अनुभव से है, किन्तु इनके भी उत्तर हम आज तक तय नहीं कर पाये हैं–हज़ारों वर्षों के तर्क-वितर्क और चिन्तन-मनन के बावजूद। ज्ञान और अनुभव के लिए निकटतम विषय आत्मा है, जो साथ ही अविषय भी है, क्योंकि यह विषयिता से अभिन्न भी है। किन्तु चेतना की प्रत्यङ्मुखता में यह विषयतया प्रस्तुत होकर अपारता और गहनता में अप्रतिम अर्थों का आगार बनता है। ज्ञातारं रे केन विजानीयात्? स आत्मा ज्ञातव्य:, मन्तव्य:, निदिध्यासितव्य:। चेतना का यह सर्वाधिक निकट विषय दर्शन का सबसे प्रथम और सबसे मुख्य विषय रहा है। जीवन की सार्थकता-निरर्थकता, सदसद्-विवेक और इसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय का निकष ये सब इस आत्मा के स्वरूप से ही निगमित होते हैं। बहुत से दार्शनिकों ने इस आत्मा को द्रव्य, वस्तु, के रूप में देखा है, जैसे आत्मा को मानने वाले सभी पाश्चात्य दार्शनिकों ने, हमारे यहां न्याय, वैशेषिक, जैन, नैरात्म्यवादी बौद्ध, सांख्य और सभी धर्मों ने। किन्तु यह दृष्टि-दोष है जिसका मूल याथार्थ्य को वस्तुपरक पदावली के बिना समझ पाने की हमारी सहज असामर्थ्य में है। जैसाकि हमने अन्यत्र विस्तार से आत्मा के स्वरूप विषयक विचार में देखा है।[5] इसी प्रकार के दूसरे प्रश्न, जैसे 'कविता क्या है?' को लें। हम युगों से कविता करते आ रहे हैं, कविता-अकविता का भेद भी लगभग सहज में कर सकते हैं, किन्तु 'कविता क्या है' इस प्रश्न पर भी युगों से विचार करते आ रहे हैं और किसी अविवादास्पद निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं। अब, 'कविता करने' और 'कविता क्या है' इस प्रश्न पर विचार करने में अन्तर क्या है? इनमें अन्तर यह है कि जबकि प्रथम में 'मानवीय चेतना' सहज प्रवर्तित होती है, दूसरे में प्रत्यङ्मुख होकर उस प्रवर्तन के स्वरूप का विषयकरण करती है, जो स्वरूप अपने अर्थ में अथाह है।[6] इस अर्थ की अथाहता चेतना की अपनी अर्थात्मक अथाहता में है, जो अर्थ उसके लिए अपने विषयकरण से उद्भूत होते हैं। चेतना के स्वरूप की यह अद्भुत बात है कि वह स्वयं अपने से

---

5. द्रष्टव्य - **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में 'आत्मान्वेषण' अध्याय तथा **तत्त्व-चिन्तन** में 'आत्म-चिन्तन' लेख।
6. यहां द्रष्टव्य है कि काव्य और कलाओं में भी दृष्टि प्रत्यङ्मुखतया ही प्रवर्तित होती है, इसीसे इस दृष्टि का लोक भी अगाध ही होता है, किन्तु इसका लोक विषयिता का लोक होता है। 'कविता क्या है' इस प्रश्न की पृच्छा विषयपरक है और इसका विषय वह दृष्टि है। इस भेद की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हमारे काव्य और कलाओं विषयक लेख।

लौटकर अपने लिए अपार अर्थ-भुवनों को रचती, या कहें उन अर्थ-भुवनों में रचित होती है और ये भुवन उसके लिए सदैव ईषत् ही गम्य होते हैं और अपनी शेष अपारता को निरन्तर पीछे हटते क्षितिज के रूप में प्रकट करते हैं। इसी कारण दार्शनिक प्रश्नों का ही नहीं, स्वरूप-विषयक किसी भी प्रश्न का कोई अन्तिम समाधान नहीं मिल सकता, और इसी कारण उसमें उस अर्थ में कोई प्रगति नहीं दिख सकती जिस अर्थ में विज्ञान में। क्योंकि इसमें कोई अन्तिम छोर होता ही नहीं, और न कोई निश्चित पड़ाव हो सकता है जिस पर से आगे बढ़ा जाय। विज्ञान में ये पड़ाव तकनीकीय प्रगति के द्वारा स्पष्ट लक्षित होते हैं। ऐसे प्रश्नों के उत्तरों में केवल गहराई और व्यापकता का अन्तर देखा जा सकता है और यह गहराई आज से हज़ार या दो हज़ार वर्ष पहले के गवेषी की दृष्टि में आज के गवेषी से अधिक भी हो सकती है। उपनिषद् और गीता आज भी हमारे लिए प्रमाणभूत हैं और प्लेटो या नागार्जुन, या वसुबन्धु आज भी उतने ही पठनीय हैं। दूसरी ओर क्वाइन और राइल हैं, और उनसे भी आगे देरिदा तथा फूको आदि हैं जिनमें दृष्टि-दारिद्र्य किसी का भी दिखाई दे सकता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार के विचार की प्रामाणिकता क्या है? इसमें हम जिन अर्थों को देखते या पाते हैं वे वास्तविक हैं, कल्पना मात्र नहीं हैं, यह हम कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर सीधा देने के बजाय हम वैज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध में यही प्रश्न उठाकर उस पर विचार करने के मार्ग से देंगे।

विज्ञान ने प्रगति की है यह प्रकटतः असंदिग्ध है–हमने भौतिक जगद्विषयक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर दृष्टि पायी है और इस दृष्टि के द्वारा अधिक से अधिक सशक्त और कुशल से कुशलतर उपकरणों का निर्माण कर उसकी प्रामाणिकता देखी है। यह प्रकटतः ठीक है, किन्तु इस पर यदि थोड़ा विचार करें तो यह उत्तर सन्देहास्पाद दिखायी देता है। 'भौतिक पदार्थ क्या है' इसी प्रश्न को लें। भौतिक विज्ञान इसे लेकर केवल निर्धारित प्रयोगों द्वारा परीक्षणीय अभ्युपगम बनाता है जो भौतिक तत्त्व के स्वरूपविषयक नहीं होकर उस तत्त्वविषयक किसी पूर्वगृहीत धारणा के अन्तर्गत उस अभ्युपगम से लक्षित निष्कर्ष होता है। यह निष्कर्ष भी कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं होता, केवल तात्कालिक ही होता है, क्योंकि ये निष्कर्ष किसी सरल प्रत्यक्ष विषयक नहीं होकर अत्यन्त जटिल सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित क्रियाओं के परिणामों द्वारा अनुमेय विषयक होते हैं। इसीसे सैद्धान्तिक विज्ञान (थ्योरैटिकल फ़िज़िक्स) केवल अभ्युपगम (हाइपोथिसिस) की ही स्थिति में बना रह सकता है, कभी अंतिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकता। जहां तक इसके दूसरे पक्ष : उपकरण-निर्माण : का प्रश्न है, वह ज्ञान-विषयक वैसे ही नहीं है, वह मूल्यविषयक है–यह दैहिक सुख, समृद्धि और प्रभुता की ईप्सा से नियोजित अन्वेषण है। इसकी युक्तता के लिए प्रमाण वस्तु-दर्शन या तत्त्व-दर्शन नहीं होता बल्कि दैहिक सुख कितना और कैसा मिला और यह सुख परम साध्य होकर सुख रहता है या नहीं, यह प्रमाण होता है, और यह प्रश्न वैज्ञानिक

विचार के बाहर की बात है। इस प्रकार यह दैहिक सुख की पर्येषणा से प्रेरित व्यापार है। इसकी कुशलता के लिए प्रमाण तो कुशलतर उपकरणों के आविष्कार से मिल सकता है, किन्तु यह पर्येषणा की युक्तता के लिए तो प्रमाण नहीं है। इसका साध्य सुख है, किन्तु यह केवल दैहिक सुख ही दे सकता है। अब, दैहिक सुख भी साध्य तो है–हमें रोग और निर्धनता से भी मुक्ति तो चाहिए ही! किन्तु क्या यह परम साध्य भी है? और क्या इसकी सिद्धि भी इस मार्ग से संभव है? दैहिक सुख के स्तर पर भी इस विज्ञान की सफलता ने जो समस्याएं उत्पन्न की हैं–भोगवाद, प्रदूषण, प्राकृतिक संपदाओं का क्षय आदि, फिर प्रभुता के लिए शस्त्रास्त्र, तज्जन्य आतंकवाद आदि आदि'' वे सर्वविदित हैं। किन्तु इन परिणामों की बात छोड़कर सैद्धान्तिक रूप से भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या यह सुख परम साध्य होकर सुख रहता भी है? इस सुख को वास्तव में दु:ख देखने वाले लोग ऋषि और मुनि की चित्त-भूमियों पर आरूढ़ हुए जबकि इस सुख को परम साध्य मानने वाले आसुरी चित्त-भूमियों के अधिकारी बन कर क्लेश, कलह और कलुश के भाजन हुए। क्यों यह सुख नहीं दु:ख है, क्यों अकिंचन भाव का वरण करने वाला सन्यासी सबसे बड़ा धनाढ्य, सबसे अधिक वैभवशाली है, ये प्रश्न और इनके सकारात्मक या नकारात्मक, कैसे भी, उत्तर विज्ञान के क्षेत्र में नहीं बल्कि दर्शन के क्षेत्र में आते हैं और इनका कोई भी उत्तर कभी भी अन्तिम नहीं हो सकता, क्योंकि इनका सत्य बाह्येन्द्रिय-गम्य देश-काल में अवस्थित नहीं होकर चेतना की गहन गुहा में अवस्थित है और उसे हम उस गुहा में गहरे उतर पाने की योग्यता के अनुसार ही देख सकते हैं। पश्चिम के इधर के तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने इन प्रश्नों को प्रश्न ही मानने से इन्कार किया और इन्हें अपप्रश्न कहा। उनका यह कथन और इस कथन के आधारगत दृष्टि-दारिद्र्य का प्रकाशन ये दोनों बातें भी दर्शन के क्षेत्र के ही अन्तर्गत हैं। कि इन प्रश्नों के उत्तर कभी अन्तिम रूप से नहीं दिये जा सकते, ये प्रश्न फिर फिर और इसी प्रकार उठते रहेंगे, यह बात दर्शन की गति-हीनता, उसकी आत्मवंचना की द्योतक नहीं है, बल्कि उसके गवेष्य विषय की अतल गहनता की द्योतक है, जिसमें आप जितना ही गहरा जाएंगे तल उतना ही अधिक दूर दिखायी देगा।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-302015

संगीत का भावलोक[1]

(एक विचार-यात्रा)

मुकुन्द लाठ

अपनी बात को एक विचार-यात्रा के रूप में आपके आगे रखना चाहता हूं - मेरी अपनी विचार-यात्रा के रूप में। बात को यों सामने रखने पर, सोचता हूं, बात में विचार-मंथन के साथ भाव की गति का भी साथ रहेगा - युक्ति के साथ चिन्तन की अनुभूति का आवेग कहिये - जिसे विचार की प्रस्तुति में आगे नहीं लाया जाता। यह वैसे ठीक भी है। पर मैं विचार के नेपथ्य में आवृत अनुभूति को इसलिये जानबूझ कर अनावृत कर रहा हूं कि विचार एक ऐसी यात्रा का रूप ले सके जिसमें आपको अधिक आत्मीयता से साथ ले सकूं।

विचार की अनुभूति में युक्ति के साथ घनिष्ठ-भाव रखता एक हैरानी और परेशानी का भाव अकसर युक्ति का अंतरंग होता है - वही विचार को आवेग देता है। यह इसलिये कि विचार अपने साथ, अपने भीतर ही, प्रश्न लिये चलता है। प्रश्न व्याकुल कर सकता है - विचलन, उद्वेग जगा सकता है - पर साथ ही युक्ति के रास्ते पर बढ़ने की मांग भी करता है, और यों विचार के भीतर ही एक खोज की आकूति समो देता है।

अपनी यात्रा को कुछ पर्वों या चरणों में बाँट सकता हूं। पर इसे काल-क्रम के किसी खाँचे में भी नहीं बाँध दूंगा, क्योंकि यात्रा की अंतर्गति लकीर की तरह आगे नहीं बढ़ती। यात्रा को मैं अपनी कहानी - राम कहानी - नहीं बनाना चाहता, विचार में इसका प्रयोजन नहीं है। अपनी कथा या राम-कहानी से ऊपर उठ कर ही विचार की अपनी यात्रा बनती है। फिर भी विचार का एक संदर्भ होता है जो राम-कहानी से, व्यक्ति के जीवन-चरित से, और उस चरित के संदर्भ से भी, संबंध रखता है। तभी प्रश्न का भी एक संदर्भ होता है, क्योंकि प्रश्न व्यक्ति में जागता है। कहना न होगा कि प्रश्न का रूप भी इस जीवन-संदर्भ से प्रभावित होता है। प्रश्न और विचार एक व्यापक सामान्य चेतना में घर करते हैं जिसे वैश्वानर कहा जा सकता है, पर उन का संदर्भ विशेषता लिये होता है : किसी समाज-संस्कृति, किसी परंपरा, किसी भाषा

---

1. भारत भवन, भोपाल में दिया गया व्याख्यान।

विशेष में जड़ करता हुआ तद्गत व्यक्तियों से भी घनिष्ठ होता है। तभी विचार के इतिहास की बात की जा सकती है। यों मेरे अपने विचार के इतिहास को विचार-यात्रा का एक दृष्टांत ही समझना चाहिये और मैं विचार की गति को ही प्रधान रखूंगा, अपने आत्मचरित में नहीं बह निकलूंगा।

संगीत पर सोचते हुए मेरे मन में जो पहला प्रश्न जागा था वह रस-सिद्धांत के संदर्भ में जागा था। प्रश्न को सामने रखने से पहले अपनी कहानी थोड़ी उभारता हूं - मुझे लगता है कि इस से पश्चिम की और हमारी परंपरा की विचार-प्रवृत्ति में जो गहरा संस्कार-भेद है उसकी भी एक ध्वनि उभरेगी। भिन्न विचार-परंपराओं में आंतरिक सामान्य के साथ भी विचार-गत अभिनिवेश की अलग दिशायें बनती हैं जो विचार की बहुविध संभावनाओं में निहित होती हुई भी विशेष रूप लेती देखी जा सकती हैं। आज हम पश्चिम की परंपरा को सब के लिये ऐकांतिक सी मान कर इस बात को भूलने से लगे हैं। इसका एक बड़ा कारण यह है कि विचार की भाषा ही हमारे लिये पश्चिम की भाषा हो गई है - अंग्रेज़ी ही आज हमारे लिये विचार का चरम स्रोत है, विषय कोई भी हो। पर मेरे लिये चिन्तन की दीक्षा संस्कृत से हुई। मैंने किसी गहराई के साथ कुछ सोचना-समझना संगीत से शुरु किया, और कहा जा सकता है कि संगीत में हम अब भी जड़ से भारतीय हैं - संगीत के रूप, उसके आदर्श, उसका शास्त्र, उस पर चिन्तन ये संस्कृत में ही हुए हैं और वहीं से हमारी भाषाओं में आये हैं। उस पर हम कुछ सोचते हैं तो वहीं से शुरु करते हैं।

मेरी पहली पढ़ाई -या जिसे पहली पढ़ाई कहना चाहिये - अंग्रेज़ी साहित्य में हुई। अंग्रेज़ी में मेंने बी.ए. ऑनर्स किया। ध्यान संगीत की ओर ही अधिक था, फिर भी साहित्य-बोध भी जागा और साहित्य के आस्वाद, समझ और परख की एक दृष्टि में दीक्षा हुई जो अंग्रेज़ी साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने से जुड़ी थी। बी.ए. के बाद कई साल मैं औपचारिक शिक्षा से विरत रहा। गाना-बजाना ही करता रहा, पर हां, पढ़ने-लिखने का शौक भी बना रहा। यूनिवर्सिटी की पढ़ाई दुबारा शुरु की तो संस्कृत में एम.ए. का विद्यार्थी हुआ। यूनिवर्सिटी में पढ़ाये जाते संस्कृत के पाठ्य-क्रमों में साहित्य के सिवा भी बहुत कुछ पढ़ाया जाता था, पर फिर भी कह सकते हैं कि केन्द्र में साहित्य ही था। मैं यादवपुर यूनिवर्सिटी में था, पढ़ाई का माध्यम संस्कृत था, पर बांग्ला भी उतनी ही काम में ली जाती थी। एक अपवाद था : हमें संस्कृत साहित्य का इतिहास भी पढ़ाया जाता था, पर वह अंग्रेज़ी में पढ़ाया जाता था। ऐसा क्यों, यह सोचने की बात है। हम जानते ही हैं कि संस्कृत में साहित्य के पठन-पाठन की और साहित्य पर विचार करने की परंपरा बहुत पुरानी है, फिर साहित्य का इतिहास अंग्रेज़ी में क्यों? बात सीधी सी है, पर सोचने को भी विवश करती है। संस्कृत में साहित्य की समझ-परख साहित्य के इतिहास को स्थान नहीं देती। संस्कृत साहित्य का इतिहास विदेशी विद्वानों द्वारा

अभी हाल ही में लिखा गया है, और प्रधानत: अंग्रेज़ी और दूसरी योरोपीय भाषाओं में लिखा गया है (तभी हमें वह अंग्रेज़ी में पढ़ाया जाता था)। संस्कृत के पारंपरिक विद्वानों का साहित्य-बोध उससे अछूता सा ही है (हालांकि अब संस्कृत के विभिन्न शिक्षा-संस्थानों में पढ़ाने के लिये संस्कृत में साहित्य का इतिहास मिल जाता है)। पर यहां एक गहरा प्रश्न उठता है कि किसी विषय के साथ उसका इतिहास कितना अंतरंग होता है? हमारे यहां संस्कृत साहित्य का इतिहास पढ़ाने के साथ तो यह प्रश्न उठना ही चाहिये, पर उठाया नहीं जाता। साहित्य के साथ साहित्य के इतिहास को सम्मिलित करने का अर्थ क्या, अभिप्राय क्या? मैं नहीं समझता कि संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने वालों के मन में यह प्रश्न कभी किसी गहराई से जागा। अंग्रेज़ी पढ़ाने में इतिहास समझ के केन्द्र पर होता था, अतएव संस्कृत में भी होना चाहिये – साफ़ ही, यह सीधा सा अनकहा (और अनसोचा) तर्क था, जो यों भी हमारी पश्चिम-गामी प्रवृत्तियों पर युक्तिहीन भाव से हावी था - और है। मैं जब पढ़ रहा था तो मैंने भी नहीं सोचा था कि आख़िर संस्कृत साहित्य का इतिहास क्यों? बस मान लिया था कि यह तो होना ही चाहिये – अंग्रेज़ी साहित्य की समझ में इतिहास का पक्ष सर्वतोव्याप्त सा था, और मेरे संस्कार वहीं बने थे। पीछे मैं जब इतिहास ही का अध्यापक हुआ तो इतिहास-दर्शन भी पढ़ाया करता था। यह दिखा कि पश्चिम की समझ में भी इतिहास को केन्द्र पर आये बहुत समय नहीं हुआ है – 18वीं सदी के बाद का आधुनिक पश्चिम ही इतिहास को मनुष्य की समझ के केन्द्र में रखता है, अकसर उसे मनुष्य की समझ का पर्याय ही समझ लेता है। इतिहास को किसी भी विषय के पढ़ने-पढ़ाने में इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है इस का रहस्य यही है। पहले पश्चिम में भी इतिहास इतना हावी नहीं था। इतिहास को समझ या बोध मात्र के केन्द्र में रखना यह पश्चिम के लिए भी नई बात है, और इसका भी अपना इतिहास है – अर्थात् यह बोध के लिये अनिवार्य या बोध-के-स्वभाव-में-ही-निहित कुछ नहीं है। हम फिर भी सोच ही सकते हैं कि इस बात से इतिहास का महत्त्व छोटा क्यों हो? इतिहास का व्यापक महत्त्व नया सही, पर सवाल यह है कि वह समझ के लिये सार्थक है या नहीं? किसी दृष्टि की सार्थकता या सच्चाई उसके पुराने या नये होने पर निर्भर नहीं करती! यह ठीक है, पर प्रतिप्रश्न तो रह ही जाता है: जहां इतिहास को महत्त्व नहीं दिया जाता वहां क्या विषय की पकड़ गहरी और खरी नहीं होती? अगर होती है तो फिर इतिहास को इतना तूल क्यों दिया जाये कि उसके बिना मानो समझ ही अधूरी दिखे?

इन प्रश्नों की विवेचना में यहां नहीं जाऊंगा, इसका यह स्थान भी नहीं है, पर इतना कहूंगा कि अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन में जो स्थान इतिहास का था संस्कृत-साहित्य की समझ में वही स्थान रस-चर्चा का था – या यों कहना चाहिये कि काव्य की (दूसरे शब्दों में, साहित्य की) आत्मा (स्वरूप) क्या? इस प्रश्न का था। संस्कृत-

साहित्य का इतिहास तो यों भी खोखला सा ही रहता है - कुछ तिथि-तारीख़ों के निर्णय-विवाद के झाड़-झंखाड़ में ही अकसर उलझा दिखता है। इतिहास की ठठरी-सी ही दीखती है वहां, उसमें विगत के कवियों के जीवन का, उनके समय की समाज-संस्कृति का कोई जीता-जागता चेहरा आगे नहीं आता। पर उनकी रचनायें तो हमारे सामने हैं ही, और उनमें साहित्य क्या है, यह जिज्ञासा इतिहास की नहीं है, चिरंतन है - तभी काव्य का स्वरूप क्या, यह प्रश्न साहित्य की समझ के लिये आज भी उतना ही केन्द्र का प्रश्न है जितना पहले था, और यह प्रश्न किसी साहित्य-विशेष और उसके इतिहास-विशेष से घिरा-बँधा भी नहीं है।

आप जानते ही हैं कि 'काव्य की आत्मा क्या है?' इस प्रश्न के कई उत्तर दिये गये, जैसा कि ऐसे प्रश्नों के संदर्भ में स्वाभाविक ही है, पर एक उत्तर जो हमारे बोध में सबसे गहरा उतरा है वह है – रस। उत्तर व्यापक भी सिद्ध हुआ, क्योंकि उसे काव्य या साहित्य पर ही नहीं, कला मात्र पर उतारा गया – बल्कि कहा गया कि साहित्य की ही नहीं, कला मात्र की आत्मा रस है, वह कला-बोध का लक्षण है, उसकी पहचान है, रस ही कला को बोध के दूसरे क्षेत्रों से अलग करता है। यह मान्यता हममें आज भी गहरी है।

रस का पहला – या आद्य – प्रतिपादन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। पर युक्ति-विमर्श के साथ उभारी गई धारणा के रूप में रस को जो गहराई और व्यापकता मिली वह भरत के बहुत बाद की है – विशेषकर अभिनवगुप्त को ही इसका श्रेय दिया जाता है। पर बाद के विचार में भी भरत से उसका नाड़ी का संबंध बना रहा – या यों कहना चाहिये कि बनाये रखा गया। श्रद्धा से ही नहीं, बड़े 'स-तर्क' भाव से बनाये रखा गया। भरत का रस-चिंतन नाट्य को आलंबन बनाता है और आलंबन की यह कला-विशेष से बँधी रेखा रस को कला-मात्र पर प्रसृत करते समय भी बनाये रखी ही गई। भरत के चिंतन को उन्हीं के एक सूत्र के माध्यम से सामने रखा जा सकता है और यों ही रखा जाता भी रहा है। रस-सूत्र से आप सबका कुछ न कुछ परिचय होगा ही; पर सूत्र को दुहराता हूं – विभाव-अनुभाव-संचारि-भावाभ्यां रस-निष्पत्तिः : विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मेल से रस की निष्पत्ति होती है। यहां स्थायी-भाव का नाम नहीं आया है, उसे ऊह्य मान लिया गया है। पूरा तात्पर्य यह है कि किसी स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से मेल बैठता है तब इससे रस उभरता है – रस की निष्पत्ति होती है। यहां मैं सूत्र की मीमाँसा में नहीं उतरना चाहता, मेरी अपनी बात के लिये उसकी ज़रूरत भी नहीं, पर एक बात यहां ध्यान में रखने की है – भरत रस के उदय की जिस प्रक्रिया की बात कर रहे हैं वह नाटक की प्रक्रिया है: विभाव मंच पर चरित्रों और भावमय स्थितियों की प्रस्तुति है जो अनुभावों से – भावों के अभिनय द्वारा – अभिव्यक्त होती है। भावों को भरत ने दो कोटियों में

रखा है – स्थायी और संचारी। स्थायी भाव वे हैं जो हमारे स्वभाव में गहरे 'स्थित' हैं – ये बने रहते हैं – जैसे रति, क्रोध, भय, जुगुप्सा...। ये स्थायी भाव ही नाटक की प्रयोग-प्रक्रिया से रस की स्थिति को पहुँचते हैं। दूसरे भाव जैसे ईर्ष्या, चिन्ता, ग्लानि, औत्सुक्य... संचारी कहलाते हैं, इसलिये कि ये अपने आप में अस्थिर होते हुए भी स्थिर स्थायी भावों के साथ संचरण करते हुए उन्हें पुष्ट करते हैं।

भरत के भाव-विश्लेषण का गुण-दोष-विचार यहां प्रासंगिक नहीं है, पर स्पष्ट ही वह साधारण अनुभव के मनोभावों को अपने नाट्य-बोध और नाट्य-प्रयोग का अंतरंग बनाने का एक पंथ है जो हमारे यहां सदियों से अपनाया जाता रहा है। परवर्ती रस-चर्चा इस विश्लेषण को और रस की इस समझ को बनाये रखते हुए भी उसे नाट्य के क्षेत्र से ऊपर उठा कर साहित्य-पर पूरा उतार देती है और फिर इससे आगे बढ़ कर कला मात्र पर प्रसृत करती है। यह प्रसार कैसे होता है, इसकी युक्तियों का कुछ खुलासा आगे की चर्चा में करूंगा, पर एक बात कह चुका हूं, उसे ध्यान में रखना उचित है : आगे की रस-चर्चा में भी भरत का रस-सूत्र रस-मीमांसा की नींव बना रहता है ।

यों नाट्य ही अन्य कलाओं की समझ का केन्द्र बना रहता है। इस बात का एक विचित्र विरोध-में-बसा साक्ष्य हमें आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की उस युक्ति में मिलता है जहां वे संगीत को भी रस की परिधि के भीतर समो लेना चाहते हैं। ये दोनों ही गहरे विचारक ही नहीं थे, संगीत के प्रति गहरी संवेदना भी रखते थे – यह जानते थे कि संगीत अपने स्वरूप में ही नाट्य से विलक्षण है – उसमें नाट्य की तरह विभाव, अनुभाव नहीं होते तो भावों की वैसी प्रस्तुति भी नहीं हो सकती जैसी नाट्य में होती है। उनके लिये प्रश्न था: तो फिर संगीत में (सूत्रानुसार) रस की निष्पत्ति कैसे हो सकती है? मेरे मन में यही सवाल बरसों पहले जागा था जब मेरा रस-सिद्धांत से परिचय हुआ। मेरा राग-संगीत से गहरा लगाव था, मैं गाता भी था। यह बोध मुझमें गहरा था कि संगीत स्वर-ताल से ही भाव जगाता है, विभाव, अनुभाव का इससे कोई संबंध नहीं होता, पर इनके बिना रस तो क्या, भाव भी उस ढाँचे में कैसे आ सकते हैं जिन्हें विभाव-अनुभाव के संदर्भ में स्थायी-संचारी के रूप में आँका गया है? बात सीधे से तर्क की थी : अगर रस-निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव का होना आवश्यक है तो विशुद्ध राग-संगीत में रस की बात करना विसंगत ठहरता है। मैंने अपने कुछ शिक्षकों के आगे भी अपना प्रश्न और तर्क रखा, दो-एक ने थोड़ी रुचि भी दिखाई, पर उनकी संगीत में ही रुचि थोड़ी थी – किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया और न किसी समाधान की ओर बढ़ने का कदम उठाया। पीछे जब मैं आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक और उस पर अभिनवगुप्त की टीका, ध्वन्यालोकलोचन देख रहा था तो वहां प्रश्न का एक समाधान सामने आया जो इन विचारकों ने दिया है। वे समाधान का एक अनूठा, बड़ा

बेढब सा रास्ता निकालते हैं। कहते हैं कि नाट्यांग के रूप में संगीत नाट्य का अंग होता है और यों उसका रस के साथ निष्पत्ति का संबंध बनता है।

बात कुछ खुलासा चाहती है। नाट्यांग क्या है? यह जिज्ञासा सहज ही जागती है। भरत के नाट्य में – और यों भी लगभग नाट्य मात्र में – संगीत नाट्य का अंग होता है, बड़ा अभिन्न सा अंग होता है। उसके बिना नाटक अधूरा, निष्प्राण-सा लग सकता है। लग सकता है कि उसका नाट्य-भाव ही खोखला हो गया। अगर रस का संबंध भाव से है और संगीत के बिना नाटक नाटक ही नहीं, तो संगीत का रस से संबंध स्पष्ट ही है: संगीत नाट्य का अभिन्न अंग है और नाट्य का रस से साक्षात् संबंध है, यों नाट्य के माध्यम से संगीत का भी रस से संबंध बैठ जाता है! नाट्य का अभिन्न अंग होना ही संगीत को 'नाट्यांग' बनाता है। नाट्यांग के रूप में संगीत नाटक का अविच्छेद्य अंग होता है, उससे तदात्म होता है, उसी में निमज्जित रहता है, उससे अलग नहीं किया जा सकता। और इस रूप में उसका रस की निष्पत्ति से भी अनिवार्य संबंध बन जाता है।[2]

पर, साफ़ ही, एक सवाल यहां आड़े आता दिखता है। अपने आप में संगीत नाट्य से स्वतन्त्र कला है, हम संगीत में रस की बात करें तो उस संगीत की बात नहीं करनी चाहिये जो नाट्य का साथ देने के लिये विशेष रूप से रचा जाता है। अभिनव ने स्वयं ऐसे संगीत को उप-रंजक की संज्ञा दी है – वह जो गौण-भाव से रंजन करता है, प्रधान रंजक तो नाट्य ही रहता है। संगीत के स्वतन्त्र रूपों को अभिनव ने नाट्य-संगीत से अलग किया है। अभिनव से पहले आनन्दवर्धन भी संगीत के स्वातन्त्र्य को मानते-समझते थे, यह समझते थे कि अपने आप में संगीत का विभाव-अनुभाव से संबंध नहीं, संबंध नाटक के संदर्भ में बनाया जाता है, फिर भी रस की चर्चा करते हुए उन्होंने संगीत को नाट्यांग के रूप में ही देखा है और इसी रास्ते संगीत में रस की बात की है। अभिनव भी आनन्दवर्धन पर टीका करते हुए उनसे विमति नहीं जताते।

जो भी हो, आनन्दवर्धन एक पते की बात कहते हैं जो हमारे संदर्भ में विशेष ध्यान देने की है। वे मानते थे कि रस अभिहित नहीं, व्यंजित होता है और व्यंजना का क्षेत्र भाषा तक सीमित नहीं है – तभी दूसरी कलाओं में रस की बात की जा सकती है। मूक मुखभंगी, शरीर की चेष्टाएं, हावभाव ये बिना शब्द भी भावाभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं, तभी ये भाषा की तरह ही अभिनय की संपत्ति बन पाते हैं। आनन्दवर्धन (और उनके साथ अभिनवगुप्त) संगीत को भी इसी कोटि में रखते हैं और तभी संगीत से

---

2. अज्ञेय जी द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में मैंने इन बातों की चर्चा भी की थी, जिसे फिर एक विस्तृत-से लेख का रूप दिया। लेख को अज्ञेय जी ने अपने संपादित संग्रह *भारतीय कला-दृष्टि* (प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985) में शामिल किया है।

रस-निष्पत्ति की बात बनती है। पर एक बात यहां ध्यान देने की है जिस पर इन विचारकों का ध्यान नहीं गया है: अभिनय, चाहे वह मूक हो या शब्द-मुखर, विभाव को मान कर चलता है – पात्र और परिस्थिति के बिना नहीं बनता - तभी वह अभिनय होता है (और तभी भरत ने उसे अनु-भाव कहा है)। पर संगीत के लिये विभाव का होना आवश्यक नहीं, यों उसे अनुभाव – या अभिनय – की कोटि में नहीं रखा जा सकता। विशुद्ध संगीत, जैसे राग-संगीत, पात्र-परिस्थिति से सर्वथा स्वतन्त्र होता है – और संगीत के ऐसे दूसरे भी कई रूप होते हैं, और हो सकते हैं, जिनका पात्र-परिस्थिति से कोई संबंध नहीं हो। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त यह जानते थे। वे जानते थे कि रस-सूत्र को विचार की नींव पर रखते हुए इन रूपों को रस की परिधि में नहीं लाया जा सकता, क्योंकि सूत्र के अनुसार विभाव-अनुभाव के बिना रस-निष्पत्ति नहीं होती, पर जानते हुए भी उन्होंने इसकी उपेक्षा ही की।

फिर भी इतना साफ़ दिखता है कि आनन्दवर्धन का प्रतिपादन व्यंजना की धारणा को भाषा के घेर से निकाल कर कलाभिव्यक्ति मात्र के साथ जोड़ देने की ओर उन्मुख होता है। अभिधा को हम भाषा-सापेक्ष कह भी सकते हैं – अभिधा विषय की ओर संकेत करती है, उसके मूल में किसी कुछ के होने-नहीं होने का अध्यवसाय होता है। तभी अभिधा किसी तथ्य के या सत्त्व के होने से संबंध रखती है। पर भाषा-मुक्त कला के रूप प्रतीकमय और सार्वभौम होते हुए भी किसी कुछ के होने-नहीं होने का अध्यवसाय नहीं करते। विषय-दृष्टि नहीं रखती कला - अपने अर्थ का संप्रेषण ऐसे विषय के रूप में नहीं करती जिसका 'है' या 'नहीं है' बात की जड़ में होता है। यह बात ऐसी कलाओं में सर्वथा स्फुट होती है जिन्हें हम आज 'अमूर्त' कलाएं कहते हैं – राग-संगीत, विशुद्ध अभिनय-विहीन नृत्त, वास्तु, अमूर्त कहलाते चाक्षुष शिल्प...। ये स्वरूप से ही किसी विषय की ओर संकेत नहीं करते, पर अर्थाभिव्यक्ति में सक्षम होते हैं। और सच तो यह है कि ऐसी कला भी जो बाह्य-जगत् को (अपनी तरह से) प्रतिबिंबित करती है, जैसे नाटक, कथा, उपन्यास, फ़िल्म इनमें या चित्र, मूर्तिकला जैसे शिल्पों में भी, कला बाह्य-जगत् को अपने ही अर्थों का आलंबन बनाती है, उसके मूल में अध्यवसाय नहीं होता – वह विषय-वर्णन, विवरण या विवेचन की दृष्टि से वस्तु-जगत् को नहीं देखती।[3] यों व्यंजना बात कला-मात्र पर पूरी उतरती है, प कहना

---

3. चित्र (या मूर्ति) कला के विषय में कहा जा सकता है कि उसके कुछ रूप वही करते हैं जिसे हम 'अध्यवसाय' कह रहे हैं। रेखाओं से हम भूगोल के नक्शे बनाते हैं – देशों, नगरों, सड़कों के मानचित्र आँकते हैं, वास्तु के, मशीनों तक के नक्शे बनाते हैं; मूर्तियां (और चित्र भी) केवल प्रतिकृतियों का भी काम कर सकते हैं। ये काम वही हैं जो भाषा वर्णन-निरूपण में

न होगा, जिन कलाओं में बाहर का जगत् प्रतिबिम्बित होता ही नहीं उनमें यह बात स्पष्टतर होती है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि कला में कलागत अर्थ की निष्पत्ति अभिधा से नहीं व्यंजना से होती है।

आनन्दवर्धन ने यह पैठ की बात पकड़ ली थी। अब सोचता हूं तो मुझे लगता है कि उनके बाद के रस-विचारकों को चाहिये था कि व्यंजना की धारणा को आधार बना कर कला-बोध की मीमांसा करते, न कि भरत के सूत्र को ही पकड़े रहते। एक बार अगर आप यह मान लें कि व्यंजना कला का प्राण है और वह भाषा-सीमित नहीं है, विशुद्ध संगीत भी उसके वलय में आता है, तो फिर यह भी दिख ही जाना चाहिये था कि व्यंजना विभाव-अनुभाव के बंधन से भी मुक्त होती है। अगर रस व्यंजना-प्राण है – जैसा ये विचारक मानते ही थे – तो फिर रस को भी विभाव-अनुभाव के बंधन से मुक्त होना चाहिये। व्यंजनावादी अगर व्यंजना को सचमुच अपने कला-चिन्तन का मूल बनाते तो वे रस की धारणा को और सार्थक युक्ति के साथ कला-मात्र-व्यापक बना सकते थे, या फिर रस को किसी या किन्हीं कलाओं तक ही सीमित रखते - उन्हीं कलाओं तक जिनमें बाह्य-जगत् (विशेषकर मनुष्य का जगत्) प्रतिबिंबित होता है। रस की धारणा को भरत के विभाव-अनुभाव से हटा कर ही उसकी ऐसी व्याख्या संभव है जो मूर्त, अमूर्त सभी कलाओं में एक आधार-तत्त्व की सार्थक बात कर सके – और फिर कलाओं के भेद को आँकने-समझने के लिये भिन्न कलाओं के स्वरूप-भेद को व्यंजना-भेद का आधार बनाये - उनके माध्यम-भेद के सहारे उनकी भिन्न संभावनाओं का आकलन करें।

यहां एक और भी पते की बात है जो ध्यान देने की है। ऐसा भी नहीं है कि पुराने कला-चिन्तन में रस का विकल्प नहीं है। भरत में ही है, और रस से अलग जाते इस चिन्तन का आधार भी कलाओं के उस भेद में है जो बाह्य-जगत् को आलंबन बनाने या न बनाने पर निर्भर करता है। आज के शब्दों में तात्पर्य यह है कि मूर्त और अमूर्त कलाओं में कलाबोध की दृष्टि से एक कोटिगत भेद आवश्यक है।

मैं जब एम.ए. में रस का विद्यार्थी था तब यह बात मुझ से बिलकुल छुपी हुई थी – इसलिये भी हमारे बाद के कला-चिन्तन ने भी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। पर अभिनव इससे अवगत थे और उन्होंने इस पर लिखा भी है। लेकिन उन्होंने ने भी बात को रस-चिंतन के पूरे परिप्रेक्ष्य में नहीं उभारा है – अपने रस-चिन्तन में वे रस के इस पूरी-तरह-रस-से-अलग-जाते विकल्प का उल्लेख भी नहीं करते। बात विचित्र है पर चिन्तन के इतिहास में विरल नहीं – अपने प्रिय या मन-बुद्धि के गहन में स्वीकृत

करती है। इन्हें चाहें तो हम अध्यवसाय की कोटि में रख सकते हैं। पर इन्हें हम कला के रूप में नहीं देखते – इन्हें हम 'अभिधा' के ही अंतर्गत रखते हैं, व्यंजना के नहीं।

धारणा की ज्ञात विसंगति की ओर से भी मुँह मोड़ लेना विचार में अकसर देखा जाता है – हम अपने ही विचार में ऐसा देख पाते हैं।

एम.ए. करने के बाद मुझे संगीत के एक प्राचीन ग्रंथ *दत्तिलम्* पर काम करने का मौका मिला। ग्रंथ कारिकाओं में है जो बहुत ही छोटे में बहुत बड़ी और फैली हुई बात समेटे हैं। मैंने इस ग्रंथ पर काम करना शुरु किया तो समझ को रास्ता ही नहीं सूझता था। सौभाग्य से *दत्तिलम्* का विषय भरत के *नाट्यशास्त्र* का भी एक अंग है – और इससे भी बड़ी बात यह कि *नाट्यशास्त्र* पर अभिनवगुप्त की लिखी विशद टीका, *अभिनव-भारती*, हमें उपलब्ध है। अभिनव ने रस पर जो लिखा है इसी टीका का अंश है, पर नाट्यशास्त्र का एक बहुत बड़ा हिस्सा नाट्य पर नहीं, नाट्य-अस्पृष्ट विशुद्ध संगीत और नृत्त पर है। अभिनव ने इन पर भी बहुत सूझ के साथ लिखा है – वे विभिन्न कलाओं के गहरे शास्त्र-मर्मज्ञ सहृदय थे। *दत्तिलम्* से भी वे ख़ूब परिचित थे और *नाट्यशास्त्र* में जहां *दत्तिलम्* के समान विषय का विवेचन है वहां वे *दत्तिलम्* का उल्लेख भी करते चलते हैं। *दत्तिलम्* और उसमें वर्णित संगीत के रूपों को समझने में अभिनव को ही मैंने पुरोधा बनाया। अभिनव ने साक्षात् तत्काल प्रचलित संगीत के विभिन्न रूपों के अनुभव को साक्षी रखते हुए बड़ी सर्वांग और सूक्ष्म विवेचना के साथ यह दिखाया है कि *दत्तिलम्* (और *नाट्यशास्त्र* के तत्-समान अंश में) जिस संगीत का वर्णन है वह संगीत का विशुद्ध रूप है: वहां स्वर, ताल ही प्रधान हैं, पद या शब्द गौण या उपेक्ष्य ही नहीं, अकसर निरर्थक हैं (आज के ध्रुपद में '*नोम-तोम*' वर्णों की तरह)। संगीत का यह रूप 'गांधर्व' कहलाता था और नाट्य-संगीत से तात्त्विक भेद रखता था; यह संगीत का स्वतन्त्र रूप था और अपने आप में नाटक का अंग नहीं बन सकता था। अभिनव इसकी स्वतंत्रता पर बहुत ज़ोर देते हैं। आज के शब्द का प्रयोग करें तो यह कला का 'अमूर्त' रूप था। अभिनव ने इसे यही कहा भी है, पर अपने शब्दों में – वे इसे 'स्वप्रतिष्ठ' कहते हैं, जो कि 'अमूर्त' से कहीं उपयुक्त शब्द है, क्योंकि कला यहां अपने बाहर के रूपों का आलंबन नहीं ढूँढती, स्वायत्त रूप रचती है – अमूर्त तो कला हो ही नहीं सकती।

आजकल यह मान्यता प्रबल है कि अमूर्त-कहलाते शिल्प की परिकल्पना, साधना और उस पर जागरूक, आत्मचेतन विमर्श यह सब कुछ आधुनिक पश्चिम की उपज और देन है। यह मान्यता हमारे लिये आज बोध का संस्कार ही बन गई है। पर संस्कार अविचारित है, वरना हम अभिनव की ओर तो देखते ही हैं, उनके इस पक्ष को भी देखते, उस पर सोचते! नृत्त और संगीत के स्वतन्त्र, स्वप्रतिष्ठ रूप हमारे साथ आज भी हैं, हम अभिनव के इन पर विमर्श की ओर विचार की दृष्टि से ध्यान देते तो 'अमूर्त' के पश्चिम से अनिवार्य संबंध के यों झट कायल नहीं हो जाते! आख़िर अभिनव के भी हम कुछ तो कायल हैं ही! पर हमने उनके रस-चिन्तन की ओर ही

ध्यान दिया है, उनके नृत्त और संगीत-चिन्तन की उपेक्षा की है। पर उन्होंने इन कलाओं पर गहराई से विचार किया है और इनके स्वतन्त्र रूपों पर विमर्श करते हुए कला के अमूर्तत्व पर भी गहरी सूझ के साथ विचार किया है – स्पष्ट ही यहां उनका विचार रस की परिधि से बाहर निकल आता है। रस के जकड़ाव से निकल कर व्यंजना की ओर थोड़ी गहराई से देखिये तो रस की परिधि से विचार को वही बाहर निकाल लाती है, जैसा कि हम ऊपर देख ही आये हैं। व्यंजना की धारणा में विचार की यह दिशा स्पष्ट व्यंजित है, वह मूर्त के – अनुरण-मूलक अभिव्यक्ति के - घेर से बँधी नहीं है। हम ऊपर देख आये हैं कि व्यंजना अपनी तरह से मूर्त (अनुकरण-मूलक) और अमूर्त (स्वप्रतिष्ठ) दोनों कला-प्रकारों की ओर संकेत करती है और दोनों को अपनी व्यापकता में समेटती है।

अभिनव के संगीत – और विशेष-कर नृत्त-विमर्श में – स्वप्रतिष्ठ-कला का विचार स्फुट रूप लेता दिखता है। संदर्भ यहां भी भरत का ही है, जहां इस विचार का बीज प्रकट है। भरत ने नाट्य को लोक के अनुकरण – या अनुभावन – पर निर्भर कहा है। पर वे जानते थे कि सब कला-रूप ऐसे नहीं होते। नृत्त के ताण्डव रूप की वे चर्चा ही नहीं, सांगोपांग वर्णन-विवेचना करते हैं और अंत में कहते हैं कि यह रूप अपने स्वभाव में ही नाटक से भिन्न है, क्योंकि इसमें कोई लोकगत अर्थ उपस्थित नहीं होता। वे इस अ-नाट्य-धर्मी कला का नाटक के अंतर्गत उपयोग करना चाहते थे। उनकी समस्या थी कि इस अ-लोक-गत कला को नाट्यांग का रूप कैसे दें? समस्या उन्होंने अपनी तरह से सुलझाई, पर वे जानते थे कि यह कला-रूप अपने आप में नाट्यांग नहीं है, स्वतन्त्र है। भरत का यह इंगित – या विचार-बीज कहना ज़्यादा ठीक होगा - स्पष्टतर विचार के साथ अभिनव की टीका में आगे आता है। नाटक लोक-प्रतिष्ठ है, क्योंकि लोक के आलंबन के बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, अभिनव नृत्त को नाटक से अलग करते हुए उसे 'स्वप्रतिष्ठ' कहते हैं। नृत्त लोक में उपलब्ध रूपों पर निर्भर नहीं करता, अपने रूप रचता है। इस अर्थ में अभिनव नृत्त को नाटक से ही नहीं, नृत्य से भी अलग बताते हैं जो शब्दों के भाव बताता हुआ अभिनय की तरह ही लोक की छाया का आलंबन अपनाता है। यह अंतर कुछ वैसा ही है जैसा कि आज के चित्र में फ़िगरेटिव और नॉन-फ़िगरेटिव का है – इसी को हम अनुवाद की भाषा में मूर्त और अमूर्त कहने के आदी हैं। एक ही चित्र में दोनों का मिश्रण भी पाया जाता है। अभिनव के समय के कई नृत्य-रूप भी ऐसे थे जिनमें नृत्य के साथ नृत्त का मिश्रण कौशल के साथ साधा जाता था; अभिनव ने इसका भी वर्णन किया है। अब भी ऐसे नृत्य-रूप विरल नहीं हैं – कत्थक में तो ऐसा मिश्रण अकसर किया जाता है – दूसरे नृत्य-रूपों में भी यह प्रवृत्ति बनी हुई है जहां अभिनय-धर्मी अंग-संचार करते

करते नर्तकी अभिनय से हट कर विशुद्ध नृत्त के करणों, अंगहारों की ओर बढ़ निकलती है।

स्वप्रतिष्ठ की धारणा से मैं *दत्तिलम्* पर काम करते समय अवगत तो हुआ था, पर इस पर सही ध्यान नहीं दिया - कला-चिन्तन के पूरे संदर्भ में विचार नहीं किया - कि बात रस के ढाँचे में नहीं बैठती, इस ओर ठीक ध्यान नहीं गया।

यहां एक और बात कह कर आगे बढ़ना चाहता हूं। विशुद्ध, अनुकरण-से-रीते, नृत्त के संदर्भ में भरत के आगे यह प्रश्न भी उठा था कि इस कला-रूप का अपना स्वतन्त्र लक्ष्य क्या है? इससे क्या प्रभाव निष्पन्न होता है? रस तो नहीं हो सकता, क्योंकि विभाव और अनुभाव का यहां सर्वथा अभाव है! भरत का उत्तर था कि नृत्त से शोभा उपजती है। 'शोभा' क्या? उसका रस से भेद क्या? स्वरूप क्या? उसके निष्पन्न होने की प्रक्रिया या व्यापार क्या? ये प्रश्न भरत ने नहीं उठाये। पर हम जब संगीत के भावलोक की बात करना चाहते हैं तो हमारे आगे ऐसे ही प्रश्न हैं: किसी स्वप्रतिष्ठ कला का भाव से क्या और कैसा संबंध बनता है? लोक की उपस्थिति के बिना इन भावों का आकलन कैसे हो? फिर माध्यम-भेद की भी बात है। स्वयंप्रतिष्ठ कलायें आपस में भी भिन्न हैं, तो प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या नृत्त और (विशुद्ध) संगीत का भावलोक एक ही होता है? नहीं तो भेद क्या? उसे कैसे आँका जाये? अभिनव ने शोभा की कुछ विवेचना तो की है, उसका रस से भेद भी उनके ध्यान में था, पर उस पर उन्होंने नहीं-सा ही ध्यान दिया है; उसे रस के संदर्भ में कैसे आँका-परखा जाये इस प्रश्न की मीमांसा की ओर वे बढ़े ही नहीं। वैसे यहां कला-बोध की स्वरूप-मीमांसा का प्रश्न टेढ़ा भी है। जहां लोक का आलंबन नहीं हो, भाव के ऐसे सूक्ष्म लोक में स्वप्रतिष्ठ कलाओं के कला-भेद से उभरते भाव-भेद की बात पर आने का रास्ता क्या हो, यह सवाल एक कूट पहेली सा बन जाता है। भेद का आधार माध्यम ही रह जाता दीखता है - हर माध्यम उपकरण-भेद के कारण अपनी तरह की अलग प्रतीक-व्यवस्था साधता है जिसका ग्रहण-भेद संवेदना-भेद में भी रूप लेता दिखता है - तभी एक कला का सहृदय अकसर दूसरी कला के प्रति उदासीन ही रहता है, या बड़ी निचली-अनगढ़ सी रुचि रखता देखा जा सकता है। जो भी हो, हम यहां संगीत की ही चर्चा करेंगे, पर हो सकता है कि विचार की गति में शायद दूसरी कलाओं के कला-बोध पर भी कुछ सामान्य विचार आगे आयें। पर हम जो प्रश्न उठा रहे हैं, भरत ने ऐसे प्रश्न न उठाये हैं न इनकी कोई मीमांसा की है। बस नृत्त को नाट्य से अलग करते हुए 'शोभा' कह कर वे आगे बढ़ गये हैं - हां यह भी कहा है कि प्रायेण स्वभाव से ही सब लोगों को नृत्त अच्छा लगता है। पर यह बात तो किसी भी कला के बारे में कही जा सकती है। स्पष्ट ही कला-बोध की मीमांसा के रूप में नृत्त-मीमांसा 'नृत्त अच्छा लगता है' कह कर संतुष्ट नहीं हो सकती - नाट्य के लिये तो

भरत इतने से संतुष्ट नहीं हुए! फिर यह सोचिये कि नृत्त अगर शिव की सृष्टि है, वे इसमें अपने दिव्य स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं, तो इसके लिये 'अच्छा लगता है' यह कह देना, कहता ही क्या है! अभिनव ने यहां अपेक्षया कुछ अधिक विचार किया है, चाहे आधा-अधूरा सा ही सही। स्वप्रतिष्ठ कला को नाटक और यों अनुकरण-प्रधान कलाओं से स्वतंत्र कला-कोटि मानते हुए भी जो ध्यान उन्होंने ऐसी कलाओं के बोध-भेद पर दिया वह उनके रस-विचार का एक अंश भी नहीं है। यहां तक कि 'शोभा' का निरूपण करते हुए वे 'शोभा' और 'रस' के भेद की बात भी नहीं करते, जबकि रस-चिन्तक के रूप में उनके मन में पहला सवाल यही उठना चाहिये था। रस के प्रति उनके आग्रह को ही यहां दोषी ठहराया जा सकता है। पर इतना हम देख सकते हैं कि शोभा की बात उन्हें चुभी थी और उन्होंने संक्षेप में उस पर कुछ विमर्श भी किया है।

अभिनव कहते हैं कि नृत्त शरीर के सौष्ठवमय संचार का एक निरंतर गुम्फित रचना-प्रवाह है जिससे एक शोभा उत्पन्न होती है। यह शोभा एक ऐसी रंजना है जो तत्काल ही चित्त में चमत्कार की सघन अनुभूति जगाती है। यह अनुभूति गान आदि से भिन्न होती है।[4]

स्पष्ट है कि शोभा रस से भिन्न है। नृत्त में विभाव, अनुभाव की बात ही नहीं उठती, न अभिनव ने उठाई है। पर फिर प्रश्न उठता है कि नृत्त का भाव से क्या संबंध है? है तो कैसा है, कैसे उदित होता है? अभिनव इसकी बात ही नहीं करते। लगता है

---

4. अभिनव की बात – बल्कि बात का सार - यहां मैंने अपने शब्दों में दिया है ताकि सीधा समझ में आ जाये। पर उनके शब्द भी उद्धृत करता हूं :

*तदेतदाह – **किन्तु शोभां प्रजनयेदिति**। नृत्तं प्रवर्तितं प्रकृष्टमत्रुटितं वर्ण(र्त)नाविलासवलनादिदक्षिणं यद्वर्णितं कायावयानां कायस्य च विलासचेष्टावस्थानात्मकं वर्तितं तदात्मकं यन्नृत्तं तच्छोभां रञ्जनायोग्यत्वं शोभानान्तरीयकचमत्कारं प्रकर्षेण गानादिना वैलक्षण्येन जनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितमित्यन्तेनाभिसम्बन्धः।*

वर्तना, वलना आदि शरीर को सुष्ठु भाव से मोड़ने-घुमाने की भंगियों का नाम है। /गान/ शब्द का यहां वह अर्थ भी प्रासंगिक है जो कि अभिनव ने नाट्य के संदर्भ में पारिभाषिक रूप में लिया है : गान संगीत का वह रूप है जो नाट्य-प्रयोग के साथ, उसके अंतर्गत उपरंजक के रूप में गुंफित होता है – दूसरे शब्दों में नाट्यांग के रूप में संगीत। पर इससे इतना ही प्रकट होता कि किसी स्वप्रतिष्ठ कला-बोध की मीमांसा नाटक जैसी अनुकरण-प्रधान कलाओं से भिन्न होगी, यानी रस की धारणा में नहीं समायेगी, पर उस भेद की यहां कोई विवेचना नहीं है। यह भी देखिये कि उस भेद को परोक्ष शब्दों में ही संकेत से उभारा गया है, स्फुट नहीं किया गया है जो कि उचित था।

कि कला के संदर्भ में भाव को वे रस के बाहर देख नहीं पाते थे। वे यहां व्यंजना की भी बात नहीं करते जो कि उन्हें करनी चाहिये थी – उनसे अपेक्षित थी। तभी अभिनव में हम यह पाते हैं कि शोभा एक ऐसी रंजना में सिमट आती है जो हलके इन्द्रिय-भोग जैसे चमत्कार की बात रह जाती लगती है – एक आँखों को रुचता सा बाहर-बाहर का सुंदर-सुषम-सुरम्य रूप, जिसके भीतर भाव जैसा कुछ भी नहीं। क्या अभिनव को यही अभिप्रेत था? बात ठीक नहीं जान पड़ती। वे नृत्त और संगीत के वैसे ही गहरे सहृदय थे जैसे नाट्य और काव्य के, पर इनके बोध-विमर्श की गहराई में उतरने से वे कतरा ही गये। अभिनव के लिये जो प्रश्न उठना चाहिये था वह था नाट्य से भिन्न नृत्त की व्यंजना का स्वरूप क्या है, उसकी प्रक्रिया को कैसे समझा जाये? ये प्रश्न मैं समझता हूं उनके विचार के भीतर से ही उनके मन में सहज ही उठने चाहियें थे, पर उठे नहीं। नृत्त के प्रभाव को जो भी नाम दीजिये – शोभा ही सही – उसके व्यंजना-संबंध से इनकार नहीं किया जा सकता और व्यंजित यहां भाव ही हो सकता है: आनन्दवर्धन और अभिनव ने व्यंजना को जिस व्यापक रूप में देखा है, नृत्त स्वत: ही उसके वलय के भीतर आता है। और फिर व्यंजना का द्वार भाव की ओर अपने आप ही खुल जाता है – व्यंजित भाव ही होता है। यों भी यह सोचिये कि व्यंजना की यहां बात की जाये तो व्यंजित किसे कहेंगे? अभिहित तो कुछ हो ही नहीं रहा! भाव के बिना बात ही कैसे बनेगी? और भाव की बात की जायेगी तो ऐसे भावलोक पर हमें सहज ही आना पड़ेगा जो नाट्य या दूसरी अनुकरणधर्मी कलाओं से ही नहीं, इन कलाओं के आलंबन, लोक में उपलब्ध भावलोक, से भी भिन्न है – कला अगर स्वप्रतिष्ठ है तो उससे व्यंजित भाव-संभार भी लोक-प्रतिष्ठ न हो कर स्वप्रतिष्ठ ही होगा। प्रश्न यह होगा कि ऐसे भावलोक का आकलन कैसे किया जाये, उसका व्यंजना से संबंध कैसे आंका जाये?

इन्हीं प्रश्नों पर कुछ कहना चाहता हूं, पर नृत्त को नहीं संगीत को केन्द्र में रखते हुए।

जब मैंने शोभा पर भरत के – और विशेषकर अभिनव के - कथन को पढ़ा था तो ये प्रश्न मुझसे दूर ही थे। मैं इस विचार के चमत्कार में ही डूबा रहा कि देखो हमारे यहां 'अमूर्त' की धारणा कितनी पुरानी है! हमारे कला-चिन्तन के आदि-काल में ही रूप लेती दिखाई देती है! और यह भी मुझे अनूठा लगता रहा कि हमारे यहां रस की धारणा का एक ऐसा विकल्प भी है जो स्वप्रतिष्ठ कला को अलग रख कर देखता है और हमें इस दिशा में नया सोचने का निमंत्रण देता है। पर मेरा सोचना बस यहीं तक रहा। विचार प्रश्नों के सहारे आगे बढ़ता है – प्रश्न मैंने नहीं उठाये। इस बात पर कुछ लिखा – और अपनी पश्चिममुखी दृष्टि को कोसते हुए बड़े जोश-आक्रोश के साथ लिखा कि अमूर्त की धारणा हमारे यहां पुरानी है और हमें उस पर ध्यान देना चाहिये।

यह भी लिखा कि अमूर्त के संदर्भ में कला-बोध की भी एक अपूर्व, रस-भिन्न धारणा का उदय हुआ था जो अन्यत्र अप्राप्य है।

पर उस धारणा पर मैंने विमर्श नहीं किया था, उसका उद्घोष भर ही किया था। सोचने का पर्याय काफ़ी बाद में आया। उस पर आता हूं। पर पहले यहां रस पर ही कुछ और कहना चाहता हूं।

ऊपर की चर्चा से लग सकता है कि रस को जो कला-मात्र-व्यापी बना देने की प्रेरणा रही है उसमें आग्रह – और शायद मोह – अधिक, युक्ति कम है। मैंने बात जिस तरह रखी है उसमें भी कुछ ऐसा बोध उभरता दिख सकता है, पर हो भी तो बात पूरी ठीक नहीं है। परवर्ती चिंतन में रस की धारणा में जो अपूर्व गहराई और व्यापकता आ समाती है, उसमें विमर्श की एक नई भूमा है। व्यंजना की बात हम कर चुके हैं। देख चुके हैं कि व्यंजना का क्षेत्र कला-मात्र व्यापक होने की क्षमता रखता है। परवर्ती रस-चिन्तन में व्यंजना का रस से अंतरंग संबंध है – रस व्यंजित होता है। भरत व्यंजना की बात नहीं करते, उनके लिये स्थायी-भाव के साथ उपयुक्त संचारी-भावों के मेल को समर्थ विभाव, अनुभाव के साथ प्रस्तुत किये जाने पर स्थायी-भाव रस के रूप में वैसे ही निष्पन्न होता है जैसे अपक्व (अनिष्पन्न) भोज्य-पदार्थ पाक और व्यंजनों के मेल से भोग्य, सुस्वादु हो जाता है। भरत ने नाट्य को समझने के लिये भोजन के षट्-रस का ही दृष्टान्त लिया है। पर स्पष्ट ही यह दृष्टान्त कला के लिये अनुपयुक्त है - कला को भोजन की तरह इन्द्रिय भोग का विषय कहना बड़ी स्थूल सी बात है। यह ठीक है कि कला में एक स्वाद, एक मन-को-रिझाती-रमाती रंजना भी होती है, पर यह कला का मर्म नहीं है। फिर इससे भी बड़ी बात यह है कि भाव को हम उस तरह भोज्य-स्थानीय नहीं रख सकते जैसे भोजन की सामग्री –अन्न, कन्द, मूल, मसाले...। भाव चित्तवृत्तियां हैं, उनकी ऐसे उपादानों से तुलना करना नासमझी ही है। परवर्ती चिन्तन भरत को आधार रखता हुआ भी – उन्हें आप्त रखता हुआ भी – विमर्श का बिल्कुल अलग मार्ग अपनाता है। हां, आस्वाद की धारणा को नहीं छोड़ता, चाहे उसे कितनी ही उत्तुंग पदवी दे देता हो – रस को षट्-रस से उठा कर *रसो वै स:* के शिखर पर बैठा देना चाहता हो।

रस-चिंतन में जो सूझ और अंतदृष्टि की बात है वह साधारणीकरण की धारणा में रूप लेती है। नाट्य में – और कह सकते हैं कला मात्र में – भाव साधारणीकृत हो जाता है। तभी उसकी निष्पत्ति संभव होती है जो व्यंजना की प्रक्रिया से होती है। 'साधारणीकरण' के अर्थ में सहज प्रवेश के लिये एक छोटी सी कहानी सुनाता हूं जो मेरे सुधी शिक्षक ने क्लास में सुनाई थी।

गाँव में एक बुढ़िया थी जो गाँव से कुछ बाहर ही रहती थी। गाँव में आना-जाना, लोगों के साथ उठना-बैठना कम ही करती थी। मेलों, उत्सव-त्यौहरों से भी दूर रहती

थी। पर एक बार जब राम-लीला हो रही थी तो बुढ़िया भी आ बैठी, देखने लगी। सीता-हरण का प्रसंग था। रावण आया और छल-बल से रोती-चीखती सीता को उठा कर घोर अट्टहास के साथ मंच के बाहर की ओर ले बढ़ा। बुढ़िया को बड़ा बुरा लगा - इस बात से और भी कि इतने लोग बैठे हैं, दुखी हो रहे हैं, आँखों से आँसू बहा रहे हैं, पर उनके सामने से वह दुष्ट बेचारी लड़की को जबरदस्ती उठा ले जा रहा है पर कोई कुछ बोलता तक नहीं, सब के सब लाचार से बैठे टिसुए बहा रहे हैं! बुढ़िया से रहा न गया, उठ खड़ी हुई और पुकार कर बोली, 'अरे, तुम सब यहां इतने सारे हट्टे-कट्टे जवान बैठे हो, पर उस बदमाश को चुपचाप क्या देख रहे हो, उसे रोकते क्यों नहीं? क्या सबको ही लकवा मार गया है? ठूँठ की तरह क्यों बैठे हो, कुछ करते क्यों नहीं?'

अब आप सोच ही सकते हैं कि आगे क्या हुआ। दो- चार हट्टे-कट्टे जने उठे और बुढ़िया को कंधे पकड़ के बैठा दिया; कहा कि चुप बैठ जा नहीं तो बाहर निकाल देंगे।

यहां सवाल यह है कि वह कैसा दुःख, कैसा शोक था जो देखनेवालों को हो रहा था? दुःख और शोक बुढ़िया को भी हो रहा था, पर उसकी प्रतिक्रिया ही अलग थी – उसके लिये जो कुछ हो रहा था वास्तव था जिसका होना कुछ करने की मांग कर रहा था। बुढ़िया को बुरा ही यह लग रहा था कि लोग कुछ कर क्यों नहीं रहे हैं! वह नाटक को नाटक की तरह नहीं देख पा रही थी! ऐसा विरल ही होता है पर इस कहानी की 'कहनी' ही यही है कि नाटक नाटक ही होता है, 'वास्तव' नहीं होता। पर नाटक का होना वास्तव से भिन्न ही सही, भाव तो नाटक भी हममें जगाता ही है, नहीं तो नाटक ही नहीं होगा! सवाल यह है कि उसमें कैसे भाव जागते हैं? उन्हें कैसे आँका-समझा जाये? बुढ़िया की प्रतिक्रिया यह भी दिखाती है कि व्यवहार के साधारण अनुभव से अलगाव रखते हैं ये भाव। साधारण अनुभव के भाव को दैनंदिन अनुभव-प्रवाह से – आठ पहर की रहनी-करनी से - निकाल कर प्रेक्षण का विषय बना देता है नाटक (नाटक को 'प्रेक्षणक' कहते भी हैं) नाटक में हम भावों के द्रष्टा हो जाते हैं – पर भावानुभव - या भावना के स्पंद - के भीतर ही रहते हुए : मानो भावना की आँख से ही भावों को देख पाते हैं, उनका अनुभव करते हुए भी उनसे अलग खड़े हो कर उनका प्रेक्षण कर पाते हैं। बुढ़िया-भिन्न देखनेवाले नाटक को ऐसे ही भावन से देख रहे थे। यही नाटक में स्वाभाविक है। और नाटक हमारे लिये स्वभाव-सिद्ध है – क्योंकि मनुष्य होने के नाते हम आत्मचेतन हैं – अपने आप को देख पाते हैं, तभी दुःख, शोक... का अभिनय कर पाते हैं, कथा-कहानी गढ़ते हैं, अपने आप को भी कहानी का पात्र बना कर आत्मकथा कहते हैं। पर ऐसा करते हुए भाव (या पात्र) प्रेक्ष्य हो जाता है – सबके लिये प्रेक्ष्य। आत्मकथा का 'मैं' मेरा नहीं होता, सबका होता है – सबके देखने का एक सामान्य पात्र। नाटक का प्रेक्ष्य भाव भी मेरा नहीं होता (जैसा कि बुढ़िया नाटक को नाटक न समझते हुए उसे समझ बैठी थी)। वह भाव उस रूप में

किसी *का* नहीं होता, जिस अर्थ में बुढ़िया *का* हो गया था – वह न लेखक *का* होता है, न अभिनेता *का* (हो तो अभिनय संभव नहीं होगा), न वह प्रेक्षक का होता है। वह साधारणीकृत होता है – भाव-सामान्य होता है जिसके सब द्रष्टा होते हैं। तभी भाव रस का रूप ले पाता है – लौकिक अनुभव के *शोक* से *करुण* रस निष्पन्न हो पाता है ('निष्पत्ति' का अर्थ ही यहां साधारणीकरण से जुड़ा है)। शोक की जगह अगर भय को लें तो बात और प्रकट होगी – नाटक में भय की परिस्थिति में भय अगर मेरा हो (प्रेक्षक का), या अभिनेता का, तो सोचिये नाटक का क्या होगा?

अभिनव के लिये साधारणीकरण का एक मार्मिक तात्पर्य था भाव को रस में निष्पन्न कर उसे 'भोग्य' या 'आस्वाद्य' बना देना। उनका कहना था कि दैनंदिन अ-साधारणीकृत भाव हमें अपने वेग में विवश रखता है, विजड़ित कर देता है, या कुछ करने को आमादा करता है – हम पर हावी रहता है, हम उससे हट कर उसका आभोग नहीं कर पाते। साधारणीकृत भाव इस 'विघ्न' से मुक्त हो जाता है, और यों भोग्य हो जाता है। अभिनव का यह अभिप्राय उन्हें भरत से जोड़ता है और उनके लिये रस को 'रस्य' बनाता है – हां, यह भी है कि रस यहां भोजन की तरह स्थूल इन्द्रिय-भोग की बात नहीं रहती, ब्रह्मानंद सहोदर हो जाती है – क्योंकि अब हम भाव के विशुद्ध, निर्लिप्त द्रष्टा हो जाते हैं।

कला के साथ भोग या आस्वाद की बात आज की संवेदना को अटपटी ही नहीं, निचली, ओछी जान पड़ती है। आज हम कला को सत्य के संधान के साथ जोड़ना चाहते हैं, भोग-लिप्सा के साथ नहीं। और यह भी देखिये कि अभिनव में भी रस का एक गहरा पक्ष प्रेक्षण के साथ जुड़ता है – भाव जहां भाव का भावन है – भाव के स्वरूप का, उसके अर्थ का भाव के भीतर से ही संधान है। दूसरे शब्दों में यह भाव-गत सत्य का ही संधान है। नाटक द्वारा भाव का साधारणीकरण ही इसे संभव बनाता है। कृति-रूप नाटक भाव की जिस व्यंजना का वाहक होता है, वह साधारणीकृत होती है – क्योंकि कृति ही साधारणीकृत होती है, नहीं तो कलाकृति ही न हो।

यहां अभिनव के साधारणीकरण पर जो प्रश्न यशदेव जी शल्य ने उठाया है उसकी चर्चा करना चाहता हूं। शल्य जी से मेरा परिचय अपेक्षया बाद में हुआ। पर उनके और उनके दर्शन के संपर्क में आने पर मैं समझता हूं मेरे सोचने में एक नया मोड़ आया – सोचने को एक नई दृष्टि के साथ रीढ़ मिली; युक्तियों के नखशिख में जागते विचार के अवयवी – समग्र – के प्रति एक नई संवेदना जागी। शल्य जी कहते हैं कि साधारणीकरण तो शब्द मात्र में होता है – भाषा स्वरूप से सामान्य-बोध में बसती है, और हमारा साधारण व्यवहार भाषा के बिना अकल्पनीय है। या यों कहिये कि भाषा-प्रयोग में व्यंजना ही नहीं, अभिधा भी साधारणीकृत होती है, फिर साधारणीकरण का कला-बोध से या रस-बोध से विशेष संबंध क्या? प्रश्न यह होना

चाहिये कि कला के क्षेत्र मैं साधारणीकरण का विशेष स्वरूप क्या? केवल साधारणीकरण कह देने से बात बनती नहीं दिखती।

शल्य जी का अपना एक समग्र दर्शन है जो अपनी तरह का वेदान्त है – सत्-चित्-अद्वयवाद। उसके नखशिख में नहीं उतरूंगा। यहां उसमें जाने की ज़रूरत भी नहीं। यहां देखने की बात यह है कि उस साधारणीकरण को कैसे समझा जाये जिसका अभिधा से नहीं, व्यंजना से संबंध हो? शल्य जी शायद इन्हीं शब्दों में प्रश्न को नहीं रखेंगे, पर इससे बात में फ़र्क नहीं पड़ता। बात यहां यह देखने की है कि व्यंजना में चेतना विषयमुखी नहीं होती – अध्यवसाय नहीं करती, विषय के निरूपण-विवेचन को, विषय को विषय-रूपेण पकड़ने की उसकी वृत्ति नहीं होती। वह विषयी को ही विषयी-रूपेण ग्रहण करने की ओर अभिमुख होती है। पर यह ग्रहण भी साधारणीकरण चाहता है – ग्रहण-करती चेतना सामान्य में बसती है और ग्रहण मात्र साधारणीकृत होता है। शब्द के माध्यम से ग्रहण का यही रूप होता है। हमारा इन्द्रिय-ग्रहण भी शब्द को आश्रय किये बिना ग्रहण नहीं बनता – इन्द्रिय मूक होती है, अपना भी ग्रहण नहीं कर सकती। ग्रहण आत्मचेतन चेतना करती है, और उसका ग्रहण साधारणीकृत होता है।

विषयी का साधारणीकृत ग्रहण विषय-रूपेण भी हो सकता है। हम अपनी चित्त-वृत्तियों का - इच्छा, सुख-दुःख, चिंता, आवेग, भाव, विचार... इनका वर्णन-विवेचन करते ही हैं, और यह सारी प्रक्रिया भी भाषा में होती है, साधारणीकृत ही होती है। इसे हम अपने विषयित्व का ग्रहण भी कह सकते हैं। पर कला का ग्रहण ऐसा नहीं होता। वहां ग्रहण की वृत्ति – उसकी उन्मुखता - विषयी को विषय बना देने की नहीं होती। वहां हम अपने विषयी-भाव में रहते हुए ही विषयित्व का साधारणीकृत ग्रहण या अवलोकन करते हैं, उसका अवगाहन भी करते हैं। संक्षेप में यही शल्य जी का प्रतिपादन है, चाहे शब्द उनके नहीं हैं। उनके शब्दों में कहें तो 'कला को... विषयिता का विषयिता-प्रत्यय, विषयिता-सामान्य के रूप में अवगमन कहा जा सकता है'।[5] 'प्रत्यय' शब्द शल्य जी के दर्शन में एक विशेष व्यापक तात्पर्य रखता है, उसे साधारणीकरण का पर्याय समझ लेना ठीक न होगा, पर प्रत्यय की धारणा को यहां खोलने की चेष्टा करना अप्रासंगिक ही होगा - और फिर मैंने जिस तरह से बात को रखा है, उसमें यह भी अभिप्राय है कि बात पिछले रस-चिंतन से जुड़ती हुई उसे आगे बढ़ाती भी दिखे।

बात को यों भी कहा जा सकता है कि व्यंजना के साधारणीकरण का तत्त्व अभिधा से बिल्कुल अलग कोटि का है। पर व्यंजना की प्रक्रिया पर थोड़ा और ध्यान दें। हमने देखा कि व्यंजना भाषा-सीमित नहीं है – ऐसी कलाओं पर भी व्याप्त है जहां

---

5. देखिये 'कला का अन्वेष्य', *मूल्य-तत्त्व मीमांसा*, पृ. 89। आगे का पूरा विवेचन भी द्रष्टव्य है।

शब्द-व्यापार का ही नहीं, अभिधा-व्यापार का भी अभाव होता है – जैसे स्वप्रतिष्ठ नृत्त और संगीत में। इनके माध्यम से, शब्द या भाषा के बिना, व्यंजना का साधारणीकरण कैसे संभव होता है? व्यंजना का संबंध प्रतीक-व्यवस्था से है। भाषा भी एक प्रतीक-व्यवस्था ही है। पर भाषा में अभिधा और व्यंजना दोनों संभव हैं। तभी व्यंजना पर चिंतन का आलंबन भी भाषा रही है। भाषा कों हम सहज ही प्रतीक-व्यवस्था के रूप में ले लेते हैं – हां, 'व्यवस्था' का अर्थ यहां 'समग्रत: नियत' जैसा कुछ नहीं लेना चाहिये, हालाँकि ऐसी प्रतीक-व्यवस्था भी संभव है जो किसी घेर में बाँध दी गई हो – गणित को कुछ लोग ऐसी ही व्यवस्था मानते थे; पर गणित के भीतर ही तर्क से यह दिखाया गया है कि गणित में एक अनियत खुलापन है जो किसी लक्ष्मण-रेखा में नहीं घेरा जा सकता। भाषा में तो इस खुलेपन को दिखाने के लिये किसी तर्क की ज़रूरत नहीं है – शब्द कितने? इसकी तो बात ही क्या, शब्द क्या? यह भी पहले से तय नहीं किया सकता है – फिर उनका मेल - संसर्ग – कैसा हो, कितने प्रकार से हो सकता है, यह प्रश्न तो और भी पेचीला है – यह अर्थ पर निर्भर करता है जो भाषा के बाहर होता है। एक तरह से यह ठीक है कि भाषा में शब्द-संसर्ग के नियम होते हैं, भाषा शब्द से नहीं वाक्य से बनती है, और वाक्य का स्वरूप कुछ तय रास्तों की मांग करता है। पर नियम अर्थ-मुखापेक्षी होते हैं जो दिगन्त की तरह खुला रहता है। 'व्यवस्था' की बात यहां अर्थ-बोध में ही निहित एक अवयवी-बोध की बात है जो एक दृष्टि होती है, नियत ढाँचा या संरचना नहीं।

पर प्रतीक-व्यवस्थायें भाषा – और गणित – ही नहीं, नृत्त, संगीत, चित्र... ये भी हैं। ये भी भाषा की तरह साधारणीकरण में समर्थ होते हैं और भाषा की तरह ही 'खुली व्यवस्था' में गठित होते हैं, जो भाषा की तरह ही अर्थ-संबद्ध होती है। आनन्दवर्धन या अभिनव में नृत्त-संगीत के प्रति यह बोध स्फुट नहीं लगता कि ये भी भाषा से *प्रतीक-व्यवस्था होने नाते* साम्य रखते हैं। वे भाषा को भी 'प्रतीक-व्यवस्था' इस नाम से नहीं जानते-पहचानते, पर वहां वे *व्याकरण* की बात करते हैं, जो बात तात्पर्य-भेद से भाषा को प्रतीक-व्यवस्था के रूप में ही देखने की बात है। पर वे नृत्त-संगीत... को ठीक इस तरह से नहीं देखते – हालाँकि अभिनव तो स्पष्ट ही उनके व्यवस्थित रूपों और इस व्यवस्था को बनाते नियमों की बात करते हैं। पर वे अगर सचमुच ही स्वप्रतिष्ठ कलाओं को भी प्रतीक-व्यवस्था के रूप में देखते तो वहां व्यंजना की बात भी मैं समझता हूं उनके मन में अनायास जागती।

जो भी हो, संगीत पर आयें। संगीत में स्वर और लय ये अभिव्यक्ति के आधार होते हैं। हम पाते हैं कि स्वर सहज ही भाव से संश्लिष्ट होता है – वह मानो भाव को अनायास ही जगाता और अपनी गति के साथ नेय बनाता चलता है – तभी हमारे जीवन में सहज ही उसकी इतनी महिमा है। पर स्वर का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व,

स्वायत्त 'होना' भी होता है जो उसे अपनी योजना, अपनी व्यवस्था देता है जो कि उसे सामान्य प्रतीक का रूप दे सकती है। यह है संवाद की व्यवस्था। ध्वनियों के चढ़ते-उतरते अंतरालों के बीच सहज ही कुछ संवाद बनते हैं: षड-पंचम, षड-मध्यम, षड-गंधार और इन्हीं संबंधों से दूसरे स्वर भी उभरते देखे जा सकते हैं। संवाद निसर्ग-प्रदत्त हैं, उसमें पिरोयी हुई ध्वनियों के बीच एक अनुरणन का सूत्र बनता है जो उन्हें स्वरत्व की भूमि देता है। स्वरों में संवाद ही नहीं विवाद भी होता है जहां ध्वनियां मानो संवाद की डोर पर तनाव डालती हैं कि जैसे उसे तोड़ डालना चाहती हों। पर विवादी अपने विरोध से स्वर की भूमि को शबल वैविध्य देते हैं, उसकी संभावनाओं को समृद्ध करते हैं - अनुरणन उनके भीतर बना रहता है।

इस निरूपण में एक चक्रकता प्रतीत हो सकती है, स्वर का कोई अपना स्वतन्त्र लक्षण उभरता नहीं दीखता: स्वर वह है जो अनुरणन की डोर से बँधा रहता है, और अनुरणन वह जो संगीत के काम आता है। एक सीमा तक यह बात सच है। पर यह बात किसी भी प्रतीक-व्यवस्था पर पूरी उतरती है: शब्द वह है जो भाषा के काम आता है, और भाषा वह जिसमें शब्द शब्द बनता है; संख्या वह है जो गणित के काम आती है...। यह दोष नहीं है, उलटे इस बात का लक्षण है कि प्रतीक-व्यवस्था के बंधों में खुला क्षितिज भी बसता है। इससे उस व्यवस्था की स्वायत्तता या सामान्यता को आँच नहीं आती, उसकी संकेत-वृद्धि ही होती है।

अभी मैंने गणित की बात की। गणित की अकसर संगीत से तुलना की जाती है। दोनों ही ऐसे स्वप्रतिष्ठ अर्थ-लोक उभारते हैं जो अपनी स्वायत्तता में हमारे अनुभव के बाह्य-जगत् से, आठ-पहर के व्यवहार-लोक से अलग खड़े जान पड़ते हैं। पर संगीत का स्वर और लय के माध्यम से हमारे भाव-लोक से बड़ा सीधा, बड़ा सजीव संबंध भी है जो गणित का नहीं है। तभी स्वर संख्या की तरह प्रतीक हो कर भी भावोद्दीपक और भाव-वाहक ही नहीं, भावों के साधारणीकरण का माध्यम बन पाता है। गणित के अर्थलोक की तरह ही संगीत का अपना अर्थलोक होता है जहां हम भावों का संयोजन करते हैं, संयोजना की संभावनाओं की टोह लेते हुए उनका अवगाहन, सर्जन करते है; वैसे ही जैसे नाट्य, कथा, कहानियां अपनी तरह से - विभाव-अनुभाव के साधारणीकरण द्वारा - करते हैं। या यों कहिये कि नाट्य, कथा, कहानियों की तरह ही संगीत साधारणीकृत व्यंजना का माध्यम बनता है जहां हम भाव की आँखों से ही भाव को देखते हुए उसमें डूब सकते हैं, उसके सार्थक गुंफों की रचना कर सकते हैं (अपनी विषयिता में रहते हुए उनका विषयिता-सामान्य के रूप में अवलोकन-अवगाहन कर सकते हैं)।

पर स्पष्ट ही ये संगीत-दृष्ट भाव और उनके स्वर-योजनाओं में साधारणीकृत रूप या गुंफ नाट्य, कथा, कहानियों की तरह लोक को आलंबन नहीं बनाते। और जब

ऐसा है तो संगीत का भाव से संबंध भी वही नहीं हो सकता जो लोक-को-आलंबन-बनाती कलाओं का होता है। भावों की हमारी *पहचान* लोक में बनती है – भरत के स्थायी-संचारी विभाजन को एक बार अलग भी रख दें तो भी भरत ने जो भाव गिनाये हैं वे (अधिकतर) लोक में घटती परिस्थितियों से संबंध रखते हैं: रति, भय क्रोध, जुगुप्सा, ईर्ष्या, चिंता, औत्सुक्य...। भरत की सूची को बढ़ाया जा सकता है, जो संचारी हैं उन्हें स्थायी के रूप में देखा-सँजोया जा सकता है, और ऐसा बाद में किया भी गया। पर इन सारे भावों की पहचान में लोक में बनती परिस्थितियां ही रहती हैं। जब ये भाव साधारणीकृत हो कर रस की प्रेक्षणीयता को पा लेते हैं तब भी उनकी पहचान लोक-निष्ठ ही बनी रहती है।

संगीत लोक-निष्ठ नहीं होता, वहां भावों की वह पहचान भी नहीं बनी रहती। संगीत लोक-भिन्न एक अपना अलग भोवलोक बनाता है – और यही उसकी महिमा है। प्रश्न है, उस भावलोक को कैसै समझा जाये ? हम देख चुके हैं कि यह प्रश्न पुराने विचारकों ने नहीं उठाया है – उठाने की ओर मुड़े भी, संगीत को स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ माना भी तो भी उसकी स्वतन्त्र भाव-मीमांसा से किनारा कर गये। पर इधर, पिछले दिनों, यह प्रश्न फिर से उठा, और इस नये बोध के साथ उठा कि संगीत की समझ नाट्य और तत्-सधर्मी कलाओं से अलग होनी चाहिये। प्रसिद्ध गायक पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर ने बात अपनी तरह से बढ़ाई है। बड़ोदा में दी गई एक व्याख्यानमाला में उन्होंने 'काकु' के माध्यम से संगीत का रस से संबंध जोड़ने की चेष्टा की है।[6] कहना न होगा, विचार नया है और इसके पीछे यह उपलब्धि है कि

---

6. उनके ***राग अने रस*** के नाम से गुजराती में दिये गये व्याख्यान बड़ोदा से छपे थे। ज्योत्स्ना जी मिलन द्वारा किया गया *राग अने रस* का हिंदी अनुवाद *उन्मीलन* के अंक 1, वर्ष 12, 1998 में छपा है।

आज व्याख्यान को दुबारा देखा तो लगा कि इसका प्रभाव जो सुनने वालों पर पड़ा होगा उसमें पण्डित औंकारनाथ के व्यक्तित्व और उनके गायन के चमत्कार का हाथ ही बड़ा रहा होगा, अपने आप में वहां रस और राग का संबंध किसी स्पष्ट युक्ति के साथ नहीं कहा गया है, एक अतिशयोक्ति और पंडिताऊपन का निरुद्देश्य फैलाव ही ज़्यादा दिखाई देता है। पर एक बात जो आगे आती है वह संगीत-चिंतन में पुरानी है: यह कि राग और रागिनी स्त्री और पुरुष होते हैं। तात्पर्य यह कि हर एक का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। औंकारनाथ जी कुछ रागों को गा कर यह बात दिखाते हैं और स्वरों के लगाव, निभाव और स्वरों के अंतराल में चलने की विशेष बरत को दिखाते हुए राग के अपने रूप और स्वभाव को खड़ा करते हैं। पर फिर पुराने चिंतन की ही तरह वे रागों को नायक-नायिकाओं के संकीर्ण ढाँचे में डाल देते हैं। इस रास्ते उनका रस से, विषेषकर श्रृंगार रस से संबंध बैठ जाता है – रति, श्रृंगार, और यों प्रेम इन्हीं के प्रति ओंकारनाथ जी का आग्रह अधिक उभरता भी है। भाषण के उत्तरार्ध के अंत

संगीत में भाव-निष्पत्ति की प्रक्रिया को समझने के लिये एक नई दृष्टि चाहिये, विभाव-अनुभाव-संचारीभाव के रास्ते बात नहीं बनेगी, चाहे रस को ही वहां भी भावाभिव्यक्ति का लक्ष्य क्यों नहीं माना जाये।

पर काकु क्या है? कविता में काकु-प्रयोग अलंकार के नाम से जाना जाता है, पर मूलत: इस धारणा का संबंध हमारे बोलने में होने वाले आवाज़ के उतार-चढ़ाव से है। यह उतार-चढ़ाव सहज ही होता है और इसका सहज ही आवेग और भाव के साथ संबंध होता है। कविता में इसकी छाया ही को काकु कहा जाता है, पर नाटक के संभाषणों में इसका सधा-दक्ष प्रयोग अभिनय का अभिन्न अंग होता है। भरत ने इसका कुशल निरूपण किया है और स्वर के साथ इसका संबंध भी दिखलाया है – स्वर में भी आवाज़ का उतार-चढ़ाव काकु की तरह ही होता है और काकु में आवाज़ कितनी चढ़े या उतरे इसका निर्देश स्वर-स्थानों को ध्यान में रख कर किया जा सकता है। पर काकु में ध्वनि का आवेग-गर्भ उतार-चढ़ाव ही बड़ी बात होती है, स्वरों को उभारना नहीं – स्वर की ओर वहां ध्यान नहीं होता, स्वर तो आरोह-अवरोह के रास्ते में पड़ते हैं, पर उनको उभारना – उनका 'उच्चार' – वहां बिल्कुल अभिप्रेत नहीं होता। ऐसा हम अपने बोलने में भी पाते हैं और नाटक में भी देख सकते हैं। काकु-प्रयोग अगर स्वर को उभारने की ओर बढ़ने लगे तो काकु ही नहीं रहेगी। अभिनव ने भरत पर टीका करते हुए इस बात को बहुत साफ़ साफ़ कहा है। वे कहते हैं कि आवाज़ के उतार-चढ़ाव का, हलके-तेज़ हो जाते भाव या आवेग से एक सीधा संबंध है जिसे हम जानवरों में भी पाते हैं। स्वर जिस अनुरणन को साधता है (जिस संवाद-व्यवस्था में बनता है) उससे काकु का कोई संबंध नहीं – वहां तो बस ध्वनि का ऊपर-नीचे उठना-बैठना है जो उसी 'क्षेत्र' में बनता है जहां स्वर भी उभरते हैं। पर स्वर का प्राण जो अनुरणन होता है उस ओर काकु उदासीन ही रहती है।

पर कविता ही तरह काकु का आलंकारिक प्रयोग संगीत में भी हो सकता है। संगीत का आधार भी ध्वनि होने के कारण काकु संगीत से जितना तदात्म हो सकती है

की ओर स्वर और काकु को वे एक ही बताते हैं और यों राग का काकु से संबंध ध्वनित करते हैं। उनको जब मैंने पहले पढ़ा था तो उनकी यही बात मुझे चुभी थी और उसी को मैंने यहां उभारा है।

एक बात और कहूंगा। रागों को स्त्री या पुरुष के रूप में देख कर उनके व्यक्तित्व की बात करना एक गहरा रूपक है – पर उसे क्षीर्ण-संकीर्ण भी किया जा सकता है, जैसा कि 13वीं-14वीं सदी के बाद हुआ ही है। इसे राग-रागिनियों के नायिका-भेद पर आधारित चित्रों में देख सकते हैं। आगे चल कर जो रागभाव की धारणा बनी वह रूपक से स्वतन्त्र हो कर विचार का स्वायत्त प्रत्यय बन जाती है। रागभाव की चर्चा आगे करूंगा।

और उसका यहां जैसा वैभव-संभार समोया जा सकता है वैसा कविता में संभव नहीं। ठुमरी-दादरे को लीजिये या गीत-ग़ज़ल को – इनमें काकु अनुरणन के साथ जागती है। ठुमरी गाई न जा रही हो, केवल सितार-सारंगी पर ही ठुमरी अंग बज रहा हो, वहां यह असर साफ़ दिखाई देता है। पर फिर भी संगीत मात्र को – या राग-प्रस्तुति मात्र को – काकु से नहीं जोड़ा जा सकता। ध्रुपद के राग-आलाप में काकु-प्रयोग नहीं सा ही होता है – काकु वहां राग के उदात्त-गंभीर रूप को उथला कर सकती है। और ध्रुपद में ही क्यों, राग की किसी भी अच्छी प्रस्तुति में काकु को एक पुट से ज़्यादा बढ़ाना राग को हलका कर दे सकता है – कहा जायेगा, 'राग की ठुमरी बना दी'।

पर जो बात यहां प्रासंगिक है वह यह कि काकु विशुद्ध संगीत को विभाव-अनुभाव और यों लोक से जोड़ने का एक नया अनूठा पंथ है (ओंकारनाथ जी काकु-भेद से नायिका-भेद पर आते हैं और रागों को इस कोटि से संश्लिष्ट करना चाहते हैं)। पर बात बनती नहीं। काकु के आधार पर संगीत के अपने भावलोक को समझा आँका नहीं जा सकता। हमारे लोक-परिचित भाव-संभार को भी काकु अपने पूरी समृद्धि के साथ सामने नहीं ला सकती – यह काम उपयुक्त विभाव-अनुभाव की माँग करता है जिसके बिना नाटक, कथा, कहानी का भावलोक भाव की एक दरिद्र छाया मात्र रह जायेगा। कहा जा सकता है कि काकु की अपनी संभावनाओं का संभार संगीत में ही रूप लेता है, लोक को आलंबन बनाती कलाओं में नहीं। पर हमने देखा कि काकु संगीत की भी एक क्षीण छाया भर है, या उतनी भी नहीं – संगीत उससे स्वतंत्र है, और संगीत *में* काकु का प्रयोग *अलग से* हो सकता है (वह भी सीमित मात्रा में और संगीत के अपने औचित्य को देखते-परखते हुए)। कविता में ठीक ही काकु को एक अलंकार का स्थान दिया गया है; संगीत में भी उसे एक रिझाता हुआ प्रयोग विशेष ही कहना ठीक होगा।

काकु से गंभीरतर और व्यापकतर धारणा 'गुण' की है। यह धारणा भी काव्य-चिंतकों में पनपी-बढ़ी है। गुण क्या है? इस ओर हम इंगित करना चाहें तो फिर भरत से समर्थ संकेत ले सकते हैं। भरत के यहां आठ रस हैं – या शांत को भी गिन लें तो नौ कह दीजिये। भरत भिन्न रसों में एक सामान्यता भी देखते हैं जिसे भाव की *आंतरिक* सामान्यता कहा जा सकता है। शृंगार, करुण, हास्य इनकी रौद्र, भयानक, वीर से तुलना कीजिये। पहली त्रिपुटी में भाव-वृत्ति का तेवर – या उसका मिजाज़ कहिये - दूसरी त्रिपुटी से बिल्कुल अलग है। भरत ने एक को 'सुकुमार' कहा और दूसरी को 'उद्धत'। हास्य, करुण, शृंगार इन *तीनों में* एक *आंतरिक* भाव-साम्य है जिसे सौकुमार्य के लक्षण से लक्षित करना उचित ही जान पड़ता है; और इसी तरह दूसरी त्रिपुटी को औद्धत्य से लक्षित करना भी तीनों के भाव-धरातल की सही संज्ञा जान पड़ती है। अब, स्पष्ट ही औद्धत्य, सौकुमार्य – और अन्य ऐसे ही भाव जो सहज

ही सोचे जा सकते हैं – वे उस तंत्र में नहीं समाते जो विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से बनता है – सौकुमार्य करुण, हास्य, शृंगार इन तीनों में प्रकट होता है जो आपस में बहुत भिन्न हैं; करुण, हास्य, शृंगार की त्रिपुटी विभाव-अनुभाव, संचारी के तन्त्र में समाती है, सौकुमार्य नहीं समाता, वह विभाव-अनुभाव-संचारी से साक्षात् निष्पन्न नहीं होता – परोक्षत: ही उदित होता है। कहा जा सकता है कि वह करुण, हास्य, शृंगार तीनों का भाव-*हृदय* है – या तीनों के भीतर खड़ी भाव की वह धरती है जो तीनों को नींव देती है। पर ऐसे भाव सीमित नहीं, उनका अपना एक संभार है जो गुण के नाम से जाना गया है। गुणों की कई सूचियां मिलती हैं जिनमें ऐसे नाम आते हैं: प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, कान्ति...। बाद के आलंकारिक गुणों को काव्य के साथ जोड़ते हैं और शब्द और अर्थ के गुणों में बाँटते हैं। पर मर्म की बात यह है (जैसा कि हम गुणों के नामों से ही देख सकते हैं) कि ये अभिव्यक्त भाव के नेपथ्य में रहते हैं – 'अर्थ' के गुण शब्दार्थ में प्रकट भावों के आंतरिक भाव के रूप में रहते हैं, यों कि भिन्न प्रकट भावों की तह में एक ही गुण रह सकता है ('प्रकट' भाव को यहां विभाव-अनुभाव के ढाँचे में ही ढला समझना चाहिये, जैसा कि आलंकारिकों द्वारा दिये गये इनके उदाहरणों से भी स्फुट होता है)। जिन्हें शब्द के गुण कहा गया है – बल्कि शब्द में प्रयुक्त ध्वनि के गुण कहना चाहिये – वहां इनकी संगीत से समीपता भी स्पष्ट होती है, क्योंकि ध्वनि के गुण विशुद्ध ध्वनि-संरचना के गुण होते हैं, अर्थ जहां परोक्ष होता है। यह भी देखने की बात है कि शब्द के कई गुण वही हैं जो अर्थ के गुण कहे गये हैं: ऊपर जिन गुणों के मैंने नाम गिनाये हैं पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने *रसगङ्गाधर* मे उन्हें शब्द और अर्थ दोनों के गुणों की सूची में रखा है। इससे इनकी प्रत्यक्ष के पीछे खड़ी परोक्षता ही व्यंजित होती है।

यहां एक लक्षणीय बात है जो संगीत की गुण-तुल्यता के प्रति गहरा संकेत करती है। नाट्यांग के रूप में हम संगीत को देखें तो पाते हैं कि संगीत का वही टुकड़ा या वही स्वर-योजना बहुत भिन्न भावों का समीचीन 'साथ' दे सकता है। भैरवी में बँधा वही टुकड़ा करुण, विरह, चिंता, दैन्य... के परस्पर भिन्न भाव-भेद को उसी एक सक्षमता के साथ उभारता देखा जा सकता है। प्रकट जान पड़ता है कि वह इनके सबके पीछे खड़े एक सामान्य गुण को अभिव्यक्त करता है जो विभाव-अनुभाव का रूप लेकर भाव-भेद के साथ प्रकट होता है।

गुण की बात मैंने यहां इसलिये भी उठाई कि गुण के आधार पर संगीत के भावलोक को आँकने की दिशा प्रेमलता जी शर्मा ने ली जो पण्डित ओंकारनाथ की शिष्या थीं और उन्हीं की तरह रस और संगीत के संबंध पर नये प्रश्नों से समाकुल। वे संगीत को रस-निष्पत्ति के ढाँचे में ढालने के बारे में संशयापन्न हो चली थीं और पुराने

चिंतन में ही विकल्प के रास्ते ढूंढ रही थीं। मैं उनके निकट था। अज्ञेय जी के संग्रह में संगीत को रस-विचार के ढाँचे में रखने की समस्या पर मेरा लेख छपा तो उन्होंने सम्मति जताई और कहा कि वे भी इस समस्या से जूझती रही हैं और फिर गुण-विषयक अपना विचार-विकल्प सामने रखा। मैं नहीं जानता कि उन्हों ने अपने विचार को कभी किसी सिद्धान्त जैसा रूप देने की चेष्टा की या नहीं। पर उनके गुण-संबंधी विचार ने मुझे काफ़ी प्रभावित किया। अपनी पुस्तक *संगीत एवं चिन्तन* में मैंने संगीत के भाव-लोक को समझने की चेष्टा की है। विभाव-अनुभाव की प्रक्रिया से अभिव्यक्त भिन्न भावों के पीछे, उसके आंतरिक धरातल पर रहते, एक ही गुण के होने की बात को बढ़ाते हुए मैंने यह प्रतिपादन किया कि संगीत भाव के उस धरातल से संबंध रखता है जिसे 'भाव-तन्मात्र' की धरती कह सकते हैं। भाव-तन्मात्र भाव की अपनी विशुद्ध स्थिति है – या परमार्थ स्थिति कहिये - जहां भाव-स्पंद भाव के परिचित व्यवहार से दूर रहता है। पर व्यवहार के रूप-भेद की संभावना भी उस में समाहित रहती है। कह सकते हैं कि भाव-तन्मात्र शब्द पर सांख्य के तन्मात्र की कुछ दूर की छाया है। पर मैं अब समझता हूं कि यह सारा विचार संगीत की पकड़ से ही कुछ दूर सा है। 'भाव-तन्मात्र' एक है या अनेक? एक हो तो संगीत के भाव-लोक की वैविध्य-संपदा का आकलन कैसे हो? और अगर भाव-तन्मात्र अनेक हों तो उसे भाव-तन्मात्र क्यों और किस आधार पर कहा जाये? और फिर, उसके अनैक्य का आधार क्या? अनैक्य के प्रकार क्या और उनके भेद का स्रोत क्या? आलंबन क्या? सच पूछिये तो गुण को संगीत की समझ का आधार बनाना उचित नहीं जान पड़ता। भाव-तन्मात्र की धारणा गुणों को ध्यान में रख कर बनी थी। गुणों में सहज अनैक्य है, पर इस अनैक्य का आधार निदान को व्यवहार के परिचित भावों पर ही निर्भर करता है। भाव-तन्मात्र इस आलंबन को छोड़ देना चाहता है, पर फिर वह निरालंब, त्रिशंकु हो जाता है, उसका स्वरूप ही अधर में झूल जाता है।

मुझ में यह विचार जागा कि गुण की धारणा आकर्षक सही, पर संगीत के भाव-लोक और उसके स्वायत्त वैभव को समझना हो तो उधर से ध्यान अलग खींचना होगा। हमारे यहां के राग-संगीत में राग के मर्म को समझने के लिये रागरूप और रागभाव की धारणायें प्रचलित हैं। इनकी ओर ध्यान दीजिये। रागरूप राग-विशेष की स्वर-योजना को गूँथने का व्याकरण होता है – कौन से स्वर लगेंगे, किन नियमों से उन्हें विन्यस्त किया जायेगा जिससे रागदारी या रागालाप राग के मार्ग पर – राग के 'चलन' में – चल सके? पर राग केवल नियम-संचालित चलन नहीं है – यही हो तो राग नहीं होगा। राग का स्वर-गुंफ एक व्यंजना का वहन करता है जो राग को राग

बनाती है – यह रागभाव है। और सच पूछिये तो रागभाव ही राग को राग बनाता है। रागभाव वह भाव-रूप अवयवी है जिसमें राग अधिष्ठित रहता है। उसे राग का अधिष्ठातृ प्रत्यय भी कह सकते हैं। वह राग के ऊपर रहता हुआ राग को रूप देता है। किसी भी प्रत्यय की तरह उसका अपना रूप नहीं होता – पर वही रूप की संभावना है। एक नहीं अनेक रूपों की संभावना है। राग में तो यह बात बड़ी स्फुट सी सामने रहती है – राग आलाप से उभरता है तो उसका रूप स्पष्ट ही संभावनामय ही होता है; उसी गायक या वादक की रागदारी में भी 'वही' राग कभी किसी पूर्व-निर्धारित रूप का अनु-प्रयोग नहीं होता; अवयवी-रूपी राग-भाव हर बार अवयवों को अपनी तरह सजाता-सँजोता है। संभावना के इस अनैक्य के साथ रागभाव में एक आदर्शमयता भी होती है – राग को क्या होना चाहिये, इसकी एक दृष्टि। संभावना और आदर्श का यह मेल सभी सर्जनात्मक प्रत्ययों में होता है – मेज़त्व को ही ले लीजिये, उसमें भी यही बात पायेंगे।

रागभाव भावों का एक व्यूह भी होता है। एक पूरे भाव-संभार या भाव-संसार को एक में बुनता अवयवी। वैसे जैसे कोई महाकाव्य या कथा या एक विराट् देवालय या भवन। पर अगर आप पूछें कि रागभाव क्या है, या राग में भाव क्या क्या हैं तो राग-रूप को, उसके अवयवी को और अवयवों को ही सामने रखना होगा – वे ही भाव-व्यंजना करते हैं। उनसे अलग कुछ कहा भी जाये तो राग का परोक्ष से ग्रहण करती वर्णन-निरूपण-विवेचन करती अभिधा ही होगी, राग की अपनी व्यंजना नहीं जो राग का हृदय है।

यह बात राग में ही नहीं कविता में भी देखी जा सकती है। अज्ञेय जी की एक छोटी सी पर अर्थ-गंभीर कविता लीजिये:

निचले
हर शिखर पर
देवल:
ऊपर
निराकार
तुम
केवल...

इस कविता में व्यंजना की अपूर्व शक्ति है। हम पूछ सकते हैं कि कविता का भाव क्या? और कहना न होगा कि इस प्रश्न के एकाधिक उत्तर दिये जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि यहां रूप से अरूप की ओर बढ़ती दृष्टि और श्रद्धा का प्रकाश है; या यहां भारतीय धर्म-भावना के मर्म को पकड़ती सहृदयता है; या ऐसा ही कुछ

और भी कहा जा सकता है जो अपने आप में कविता के प्रति खरा ही होगा। पर स्पष्ट ही कविता अपने आप में ऐसा कुछ नहीं कहती। हम कविता के भाव की *विवेचना* करते हुए ऐसी बातें कहते-समझते हैं। कविता की किसी विवेचना को हम कविता के ही आधार पर उचित या अनुचित भी ठहरा सकते हैं। पर कविता से जिस भाव की अनुभूति होती है वह कविता में ही निहित है – कविता के अर्थमय शब्दों में और उनके विन्यास में। कविता से निष्पन्न भाव की पहचान कविता ही है, चाहे उस भाव को फिर हम विवेचनाओं द्वारा आँकने-समझने की पर्याप्त-अपर्याप्त चेष्टा करें। एक बात और है: जिस भाव ने कविता का रूप लिया है वह कविता से ऊपर है, दूसरे भी रूप ले सकता है – रागभाव ही की तरह। संगीत पर यही बात और भी साक्षात् उतरती दिखती है। हम किसी राग की – या गायकी या वाद्य-शैली – की विवेचना करते हुए उस के बारे में वैसी ही बातें कह सकते हैं जैसी किसी कविता के बारे में। अमीर ख़ाँ को लीजिये। उनकी गायकी के बारे में कहा जा सकता है कि यहां एक सौम्य स्वच्छता है, एक ठहराव है, चैन है जो उनकी किसी भी राग की प्रस्तुति में झलकता है। कुमार गंधर्व के बारे में कहा जा सकता है कि उनमें एक तीव्रता है, एक मचलन है, एक प्यास, एक हूक है; और उनके कबीर-गायन में किसी बैरागी की अनासक्त पुकार है। बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ के बारे में हम कहें कि उनके गाने में एक माँसल ऐन्द्रिकता हैं, जो स्निग्ध-मदिर उँगलियों से हमें सहला जाती है, तो बात ग़लत नहीं होगी। रागों के बारे में भी कुछ बातें की जा सकती हैं: दरबारी में एक गांभीर्य है जो विरह और कारुण्य के आत्म-मनन को स्वरों में उतारता है; बहार में एक सहज आमोद और उल्लास है, जो उसकी हर गति, हर मींड में पुलक जगाता है...। हम किसी रचना में जीवन के प्रति आस्था का सुर सुन सकते हैं या निर्वेद की उचाट उदासीनता। हम अपनी संवेदना को विवेचना के रास्ते टटोलते हैं तो ऐसी बातें करते ही हैं। ये सार्थक भी होती हैं, पर ये संगीत से व्यंजित भाव की विवेचना ही होती हैं, व्यंजित भाव नहीं। व्यंजित भाव की पहचान तो स्वर-योजना में होती है जिसमें संगीत रूप लेता है। संगीत के भावों की थाह लेना, उन्हें टटोलना-ढूँढना, उनकी संभावनाओं को सृजन के रास्ते सामने लाना यह काम संगीत के स्वर-लय से – उसकी प्रतीक-व्यवस्था के माध्यम से ही – हो सकता है, वैसे ही जैसे कविता या विचार भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं।

ए३६-३७, विश्वामित्र मार्ग,
श्यामनगर, जयपुर।

अथ प्रमाणसंख्या परीक्ष्यते

आनन्द मिश्र

प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय और विनियोग की व्याख्या करना प्रमाण-मीमांसकों का प्रमुख कार्य रहा है। 'प्रमाणान्तर्भाव' की समस्या का मूलत: सम्बन्ध यद्यपि प्रमाणों के भेद या उनकी संख्या से है, फिर भी जैसा कि स्वाभाविक है प्रमाणों की संख्या की अवधारणा स्वयं प्रमाण का स्वरूप क्या है, उसका विषय क्या है, विनियोग क्या है, इस पर निर्भर करती है। प्रमाण से तात्पर्य सही ज्ञान और उसके साधन से है। कुछ प्रमाणोच्छेदवादी दार्शनिकों को यदि छोड़ दिया जाए तो सभी दार्शनिक इस बात को अवश्य स्वीकार करेंगे कि मनुष्य को संसार में ज्ञान होता है, और इस ज्ञान से ही उसके सारे कार्य-कलाप सम्भव होते हैं। या इसी बात को ऐसे कहा जाए कि सभी दार्शनिक इस बात को अवश्य स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को ज्ञान होता है। अब, दार्शनिकों का कहना है कि सारे मानवीय ज्ञान सत्य ही हों, यह आवश्यक नहीं। चार्वाकों का कहना है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रामाणिक ज्ञान है, अनुमान आदि परोक्ष ज्ञान प्रामाणिक नहीं हैं। दूसरी ओर बौद्ध और वैशेषिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं।[1] सांख्य व योग तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द मानते हैं। भासर्वज्ञ को छोड़ कर, जो केवल तीन प्रमाण मानते हैं,[2] नैयायिक चार प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक उपर्युक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं, जबकि भाट्ट मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती इन पाँच प्रमाणों में अनुपलब्धि को भी जोड़ते हुए छ: प्रमाण मानते हैं। पौराणिक उक्त छ: प्रमाणों के अतिरिक्त सम्भव और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानते हुए प्रमाणों की संख्या आठ कर देते हैं। तान्त्रिक दस प्रमाण मानते हैं, जिनमें उपर्युक्त आठ प्रमाणों के साथ चेष्टा एवं परिशेष भी जुड़ जाते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकर में तथा न्यायसिद्धिकार ने प्रकरणपञ्चिका की व्याख्या में दस प्रमाणों की परीक्षा की है। दस प्रमाणों में ये दार्शनिक प्रसिद्ध आठ प्रमाणों[3] के अतिरिक्त नवें को लोकप्रमाण या लोकप्रसिद्धि तथा दसवें को आर्ष या प्रातिभ ज्ञान बताते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दार्शनिकों ने बारह प्रमाणों तक की चर्चा की है। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने, जिनमें अकलंक और वादिदेव सूरि आदि प्रमुख हैं, इस बात को बड़े ही आग्रहपूर्वक प्रतिस्थापित किया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क

को भी प्रमाण मानना चाहिए। अत: स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को भी जोड़ दिया जाए तो कुल पन्द्रह प्रमाणों की चर्चा भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने की है।

एवे प्रकारेण हम देखते हैं कि यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में पश्चिमी दार्शनिक जहाँ परसेप्शन, रीज़न, इन्ट्रोस्पेक्शन, इन्ट्यूशन और मेमोरी की चर्चा करते हैं भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, लोकज्ञान, प्रतिभा या आर्ष, चेष्टा, परिशेष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की चर्चा करते हैं। ज्ञान के इन विविध प्रकार-भेदों में कोई दर्शन क्यों केवल किसी विशेष या किन्हीं विशेष प्रकार के भेदों को ही स्वीकार करता है यह उस दर्शन विशेष की अपनी तात्त्विक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, किंवा दार्शनिक मान्यताओं से निर्धारित होता है और इस स्वीकृति से उन-उन दर्शनों का अपना स्वरूप भी निर्धारित होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भले ही कोई दर्शन विशेष इनमें से किसी एक या कुछ विशेष प्रमाणों को ही यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार करे पर उसे ज्ञान के इस विविध सम्भावित प्रकार-भेदों के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि स्पष्ट करनी ही होगी, तभी वह दर्शन एक सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत करने का दावा कर सकता है। इस सम्बन्ध में चार्वाकों की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट है। वे प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं तथा अनुमान, उपमान आदि सब परोक्ष प्रमाणों की प्रामाणिकता को ही खारिज कर देते हैं। दूसरी तरफ वे दार्शनिक हो सकते हैं जो स्वयं तो दो, तीन, चार, पाँच या छ: प्रमाणों को मानते हैं पर यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में सम्भव हो सकने वाले विभिन्न प्रमाणों को इन में अन्तर्भूत मानते हैं। देखा जाए तो प्रमाणान्तर्भाव की समस्या का सम्बन्ध इसी से है। उदाहरण के लिए, ऐसा नहीं है कि वैशेषिक दार्शनिक शब्द और उपमान की प्रामाणिकता का खण्डन करते हैं, किन्तु उनका मानना है कि इन्हें स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अलग से मानने की ज़रूरत नहीं है, इनका अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। इसी तरह नैयायिक जब यह कहते हैं कि केवल चार ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान—तो वे अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों की प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु वे कहते हैं कि इनका अन्तर्भाव अनुमान या प्रत्यक्ष में ही हो जाता है।

बौद्धों के साथ विचित्र स्थिति है। वे 'मानाधीना मेयसिद्धि' की प्रस्थापना को सिरे से अस्वीकार करते हुए वैकल्पिक प्रमेयाश्रित प्रमाण-व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो तरह के प्रमेय होते हैं और इन दो तरह के प्रमेयों में स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से और सामान्यलक्षण का ज्ञान अनुमान से होता है। अब इस तरह की तात्त्विक मान्यता को स्वीकार करने वाले दूसरे दार्शनिक नहीं हैं, अत: बौद्धों में प्रमाणान्तर्भाव की चर्चा का वस्तुत: कोई अवकाश नहीं है। पर आश्चर्य

की बात है कि शान्तरक्षित, कमलशील, मोक्षाकर गुप्त, रत्नकीर्ति प्रभृति बौद्ध दार्शनिकों ने इस समस्या पर विस्तृत चर्चा की है। यह चर्चा इतनी प्रौढ़ है कि पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा मानो 'प्रमाणान्तर्भाव' की समस्या बौद्ध प्रमाणमीमांसा की आधारभूत समस्या हो। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों द्वारा कृत अन्य प्रमाणों की मीमांसा और बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा कृत एतद्विषयक मीमांसा में एक बहुत बड़ा अन्तर है। यह अन्तर यह है कि बौद्ध दार्शनिक जब प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण बताते हैं तब वे बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत विभिन्न प्रमाणों को अस्वीकार करते हैं और उनका आग्रह इस विषय पर अधिक रहता है कि प्रामाणिक ज्ञान के दो ही प्रकार हो सकते हैं। शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि जैसे प्रमाण वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं, और यदि कदाचित् इनमें कुछ प्रमाणांश हो भी तो वह अनुमान में ही समाविष्ट हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायादि दर्शनों के समानान्तर जब बौद्धों ने अपनी प्रमाणमीमांसा खड़ी की तो पश्चात् इन दर्शनों में बहुशः विवेचित प्रमाणान्तरों की संपरीक्षा के अनुरूप स्वसम्प्रदायानुरूप अन्य दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों की अपनी स्वतन्त्र समीक्षा को उन्होंने 'प्रमाणान्तरभाव प्रकरण' में प्रस्तुत किया। यह बात तब और पुष्ट होती है जब हम यह देखते हैं कि सर्वप्रथम गौतम के **न्यायसूत्र, द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक** में 'प्रमाणसंख्यापरीक्षा' के अन्तर्गत इस बात की विशद परीक्षा की गई है कि क्यों प्रमाणों की संख्या चार ही होगी। इस आह्निक के 2/2/1 से 2/2/12 तक सूत्रकार ने इस प्रकरण पर गम्भीर विचार किया है।[4]

वास्तव में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण की चर्चा सर्वप्रथम गौतम द्वारा ही मिलती है। 2/2/1 में न्यायसूत्रकार पूर्वपक्ष द्वारा यह प्रश्न उठवाते हैं कि क्यों प्रमाण चार ही हैं, आठ नहीं हैं—न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति-सम्भवाभावप्रामाण्यात्। न्यायसूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि सिद्धान्त मत में चार ही प्रमाणों की स्वीकृति का यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि तद् अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का ज्ञान प्रामाणिक नहीं है। वास्तव में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और प्रामाणिकता में गौतम प्रभृति नैयायिकों का पूरा विश्वास है। उनका तो मात्र यह कथन है कि इनको अलग से प्रमाण मानने की ज़रूरत नहीं है। इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रमाणों में हो जाता है। ऐतिह्य का अन्तर्भाव शब्द में हो जाता है तथा अर्थापत्ति, सम्भव व अनुपलब्धि वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं हैं। अतः प्रमाण चार ही हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। 'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनु-मानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभाावाच्चाप्रतिषेधः।'[5] इसी प्रकरण में आगे गौतम अर्थापत्ति और अभाव के प्रामाण्य को लेकर उठने वाली आपत्तियों का निरास करते हुए उनके प्रामाण्य को स्थापित करते हैं। अतः नैयायिक एक ओर जहाँ केवल चार ही

प्रमाण स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर ऐतिह्य, सम्भव, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाण की प्रामाणिकता को नकारते हैं, हाँ इनको वे अलग से प्रमाण नहीं मानना चाहते। प्रमाणान्तर्भाव-विमर्श को नैयायिकों के सन्दर्भ में इसी अर्थ में समझा जाना चाहिए।

दूसरी ओर जैसा कि पीछे हम ने देखा था, बौद्धों के साथ स्थिति भिन्न है। इस सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार उपयुक्त होगा। **प्रमाणवार्त्तिक** के द्वितीय परिच्छेद का आरम्भ ही इस बहुचर्चित प्रकरण से होता है। प्रथम परिच्छेद में प्रमाण के सामान्य लक्षण की व्यवस्था करके धर्मकीर्ति द्वितीय में प्रमाणविषयक संख्या-विप्रतिपत्ति से आरम्भ करते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रमाणमीमांसीय विप्रतिपत्तियाँ संख्या, लक्षण, गोचर, फल विषयक होती हैं और मनोरथनन्दी का कहना है कि इनमें संख्या विषयक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्।'[6] बौद्ध दार्शनिक प्रमेयों के आधार पर प्रमाणों का निगमन करते हैं। बौद्धों की भावना 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के बदले 'मेयाधीना मानसिद्धिः' में है। उनके अनुसार प्रमाण के दो तरह के विषय हैं—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। अब चूँकि विषय दो ही हैं अतः उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होंगे। इनमें स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है जबकि अनुमान सामान्यलक्षण का ग्रहण करता है। वस्तुवादी न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों की तरह बौद्ध सामान्यविशेषात्मक किसी पदार्थ को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य और विशेष परस्पर आत्यन्तिक विरोधी हैं। फलतः वे उनकी एकात्मकता को किसी तरह स्वीकार नहीं करते। अब यदि विषय का स्वरूप ऐसा नहीं है कि वह एक साथ सामान्यविशेषात्मक हो सके तो ऐसी स्थिति में किसी विषय का प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों का विषय बनना असम्भव है। अतः बौद्धों का प्रमाणान्तरभावविमर्श उनकी प्रमाणव्यवस्था-प्रमेयव्यवस्था से अनुशासित होता है। दूसरी ओर न्यायादि दार्शनिक प्रमाणों की संख्या और विषय के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष विशेष को ही नहीं अपितु सामान्य को भी ग्रहण करता है और इसी प्रकार अनुमान भी विशेष और सामान्य दोनों का ग्रहण करता है। इन दार्शनिकों के अनुसार एक ही विषय अनेक प्रमाणों द्वारा गृहीत होता है और एक ही प्रमाण अनेक ढंग के विषयों को गृहीत कर सकता है। दूसरी ओर "बौद्ध किसी प्रकार के सांकर्य के पक्षपाती नहीं हैं। प्रमाण अपने निश्चित प्रमेय का ही ग्रहण करता है और एक प्रमेय के अनेक ग्राहक नहीं हो सकते। बौद्धों के अनुसार यदि प्रमाणसाङ्कर्य और प्रमेयसाङ्कर्य माना जाए तो प्रमाणप्रमेयव्यवस्था नहीं बन सकती और प्रत्येक प्रमाण की अनिवार्यता नहीं रह जाएगी।"[7] इस प्रकार प्रमाणसंख्या के सम्बन्ध में नैयायिक विप्लववादी या साङ्कर्यवादी हैं जबकि बौद्ध व्यवस्थावादी। नैयायिक, मीमांसक आदि सामान्यविशेषात्मक पदार्थ मानते हैं, फलतः वे उसका ग्रहण प्रत्यक्ष

और अनुमान दोनों से मानते हैं जबकि बौद्ध स्वलक्षण और सामान्यलक्षण अलग-अलग मानते हैं, फलतः उनके ग्रहण के लिए दो अलग-अलग प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान मानते हैं।

जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में बौद्धों के उपर्युक्त मत की ज़बर्दस्त आलोचना की है।[8] वे इस बात का खण्डन करते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं क्योंकि दो ही तरह के विषय हैं। वे कहते हैं कि पहले तो 'दो ही तरह के विषय हैं' इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके लिए न तो प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है और न अनुमान। वे कहते हैं—"यदि थोड़ी देर के लिए विषय-द्वैध मान भी लिया जाए तो इससे क्या ? भला सामग्री की भिन्नता और फलों की भिन्नता के आधार पर मान्य होने वाला प्रमाण-भेद, अर्थात् प्रमाणगत चातुर्विध्य, कैसे वारित हो सकता है ? प्रत्यक्ष और अनुमान की सामग्री से उपमान और शब्द की सामग्री सर्वथा भिन्न है और प्रत्यक्ष तथा अनुमान के फलों से उपमान और शब्द-प्रमाण के फल भिन्न हैं...। इसलिए फल और सामग्री के चातुर्विध्य के आधार पर भी प्रमाण का चातुर्विध्य मानना अनिवार्य होने के कारण बौद्धसम्मत प्रमाणगत द्वित्व संख्या तथा सांख्यसम्मत त्रित्व संख्या खण्डित हो जाती है।"[9] आगे जयन्त इसी क्रम में बौद्धों द्वारा दी गई प्रमाणसम्प्लव-विरोधी युक्तियों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि प्रमाणों का सम्प्लव नहीं माना जाए तो फिर अनुमान का ही प्रामाण्य प्रतिष्ठित नहीं होगा, क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति है, और हेतु में साध्य की व्याप्ति का निश्चय भला कैसे होगा, व्याप्ति-सामान्य का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही मानना होगा। अस्तु, प्रमाण-व्यवस्था को लेकर बौद्धों का दुराग्रह उचित नहीं है, और प्रस्तुत समस्या के सन्दर्भ में तो यह सहज ही समझा जा सकता है कि जो प्रमाणों का साङ्कर्य मानते हैं वे ही प्रमाणान्तर्भाव की कल्पना कर सकते हैं। प्रमाण-प्रमेयव्यवस्थावादियों के सामने तो स्थिति स्पष्ट है। दो प्रमेय हैं और उनके लिए दो प्रमाण हैं, हर प्रमाण का विषय नियत है, एक में दूसरे का साङ्कर्य नहीं होता है। वास्तव में यह पूरा व्यापार देखा जाए तो समानतन्त्र दार्शनिकों में ही सम्भव है।[10]

विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रमाणों की संख्या को लेकर आपस में जो भी मतभेद हो पर सारे भारतीय दर्शन इस बात में एकमत हैं कि केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। बौद्ध और बौद्धेतर सारे दर्शन मिलकर चार्वाकों की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि वे केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। चार्वाकेतर सारे भारतीय दार्शनिकों की यह मान्यता है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण नहीं है अपितु परोक्ष ज्ञान को भी स्वीकार करना होगा। अब इस परोक्ष ज्ञान में कोई केवल अनुमान को मानता है, कोई शब्द को भी, कोई उपमान को भी,

कोई अर्थापत्ति या अनुपलब्धि को या किन्हीं अन्य ज्ञानों को भी। अस्तु, प्रत्यक्ष और अनुमान को लगभग सारे भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान चक्षु आदि पञ्च इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को सन्निहित किये हुए है जबकि अनुमान-ज्ञान हेतु और साध्य के बीच के व्याप्ति-ज्ञान या अविनाभाव सम्बन्ध पर आधारित होता है। ये दोनों ज्ञान पश्चिम के परसेप्शन और इन्फेरेन्स के समान हैं। इन दो आधारभूत ज्ञान-साधनों को स्वीकार करने के कारण भारतीय प्रमाणमीमांसा में जहाँ एक तरफ प्रत्यक्ष की गहन मीमांसा देखने को मिलती है वहीं दूसरी ओर अनुमान के नियमों की प्रचुर मीमांसा देखने को मिलती है जिससे भारत में तर्कशास्त्र का विकास सम्भव हो सका, और ध्यातव्य है कि यह विकास, प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत ही हुआ।

यद्यपि चार्वाक समेत सारे भारतीय दर्शन एक स्वर में प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं किन्तु आश्चर्यजनक रूप से सभी बौद्धेतर दार्शनिक इस बात को लेकर सहमत हैं कि बौद्ध जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं वह वस्तुतः प्रत्यक्ष का वास्तविक स्वरूप है ही नहीं। बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष नाम, जाति आदि कल्पना से रहित अभ्रान्त होता है। अब भर्तृहरि का कहना है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जो नाम-रहित हो। सारा ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है।[11] और फिर जिस अर्थक्रियाकारित्व की बात बौद्ध कहते हैं वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सम्भव ही नहीं, क्योंकि सारे व्यावहारिक क्रियाकलाप सविकल्पक प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष का जो स्वरूप बौद्ध बताते हैं उससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता, इसी कारण जैन, सांख्य, प्राभाकर, वेदान्ती सब के सब बौद्धों के मत का खण्डन करते हैं। पर यहाँ दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि नैयायिक प्रभृति प्रत्यक्ष का जो स्वरूप बताते हैं और विभिन्न इन्द्रिय-सन्निकर्षों से जिस ज्ञान की उत्पत्ति की बात करते हैं वह कहाँ तक वस्तुस्वरूप-अवगाही है और कहाँ तक स्वयं हमारी अपनी वर्गणाओं से सम्पृक्त। अस्तु, क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि नैयायिकादि जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं उसमें प्रत्यक्ष ही सब कुछ नहीं है अपितु वह स्वयं अनुमान के अंशों को सम्मिलित किये हुए है? स्वयं गौतम **न्यायसूत्र** में इस बात को पूर्वपक्ष के रूप में उठाया है कि क्यों न प्रत्यक्ष को अनुमान ही माना जाए? न्यायसूत्र 2/1/31 में उठाये गये इस प्रश्न *प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः* से न्यायसूत्र 2/1/33 तक के भाष्य, वार्त्तिक आदि में वात्स्यायन, उद्योतकर प्रभृति इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं कि किस तरह प्रत्यक्ष अनुमान से भिन्न है। वास्तव में काण्ट ने जिस तरह से अनुभव की संपरीक्षा प्रस्तुत की है उससे यह बात तो महत्त्वपूर्ण हो ही जाती है कि हम जिसे प्रत्यक्ष समझते हैं उसमें हमारे विकल्पों की किंवा अनुमान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

नैयायिक इस प्रश्न का जो समाधान देते हैं उससे असहमति हो सकती है पर उन्होंने जिस ढंग से इस प्रश्न को उठाया वह अपने आप में क्रान्तिकारी है।

ऊपर के विवेचन से हम सहज ही समझ सकते हैं कि किस तरह एक ही प्रमाण को मानने वाले लोग उस प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में कितना मतभेद रख सकते हैं। इस बात को हम दूसरे उदाहरणों से भी समझ सकते हैं। उपमान प्रमाण को ही लीजिए। नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती सभी इस प्रमाण को स्वीकार करते हैं। पर नैयायिकों का जो उपमान है वह मीमांसकों और वेदान्तियों का उपमान नहीं है। उपमान प्रमाण को न मानने वाले लोगों में भी इस बात को लेकर घोर मतभेद है कि इसका अन्तर्भाव किस प्रमाण में हो। कुमारिल जहाँ नैयायिकों के उपमान को शब्द-प्रमाण में रखना चाहेंगे वहाँ स्वयं नैयायिक कुमारिल द्वारा प्रतिपादित उपमान को पहले तो स्मृति के रूप में समझना चाहेंगे और फिर यदि ऐसा न मानने का आग्रह किया जाए तो उसका अन्तर्भाव अनुमान में करना चाहेंगे। उपमान को प्रमाण न मानने वाले दार्शनिकों में दिङ्नाग जहाँ उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते हैं वैशेषिक इसको अनुमान के अन्तर्गत ही समाहित कर लेते हैं। भासर्वज्ञ उपमान को शब्द से अभिन्न पाते हैं तो सांख्य मत के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही प्रमाण का अन्तर्भाव कोई तो प्रत्यक्ष में, कोई अनुमान में और कोई शब्द में करते हैं और मोक्षाकर गुप्त जैसे दूसरे तो इसकी प्रामाणिकता को सिरे से ही नकार देते हैं। अब जो स्थिति उपमान की है वही कमोबेश अर्थापत्ति और अनुपलब्धि की है।

प्रमाणान्तरभाव प्रकरण की समस्या वस्तुतः विभिन्न प्रमाणों के प्रामाण्य की समस्या है। पीछे हमने देखा था कि किस तरह विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने दशाधिक प्रमाणों की चर्चा की है। इन प्रमाणों में प्रत्यक्ष और अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार करना किस प्रकार उचित होगा इस पर भी पीछे हमने विचार किया। अनावश्यक विस्तार के भय से शेष बचे प्रसिद्ध चार प्रमाणों—शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का नामोल्लेख मात्र पर्याप्त होगा, हालाँकि यह ध्यातव्य है कि इन चारों में, या कहिये कि सारे प्रमाणों में, शब्द की विशिष्ट स्थिति है। देखा जाए तो भारतीय दार्शनिकों की यह एक व्यावर्तक विशेषता है जो उन्हें अन्य दार्शनिकों से विविक्त करती है। शब्द को प्रामाणिक ज्ञान के सबसे प्रमुख स्रोत के रूप में स्वीकार करना और तदनुरूप प्रमाणमीमांसा की संरचना करना भारतीय दार्शनिकों की अपनी विशेषता है। यह सही है कि बौद्धों ने शब्द की प्रामाणिकता का निराकरण किया है, पर यह सहज ही देखा जा सकता है कि उनका आशय शब्द के निराकरण से अधिक वेद के निराकरण से था। बहरहाल, हम आगे देखेंगे कि कौन से और दूसरे प्रमाण हो

सकते हैं जिनको स्वीकार करने का दावा मज़बूत था और जिनकी भारतीय दार्शनिकों के द्वारा अवहेलना हुई। इन उपेक्षित प्रमाणों में दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मृति और तर्क हैं। जैन दार्शनिकों ने इनके महत्त्व को समुचित रूप से रेखांकित किया है। जैसा कि पीछे हमने देखा था, अकलंक ने परोक्ष प्रमाणों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम की गणना की है। अन्य भारतीय दार्शनिकों ने स्मृति की पर्याप्त गवेषणा की है, पर वे उसे प्रामाणिक ज्ञान के स्रोत के रूप में अस्वीकार करते हैं। कुमारिल **श्लोकवार्त्तिक** में स्मृति के प्रमात्व का खण्डन करते हैं। तटस्थ रूप से देखा जाए तो ज्ञान तो क्षणिक होता है, जो स्थायी होता है वह उसका संस्कार होता है। अस्तु, 'कोई व्यक्ति ज्ञानी है' कहने का तात्पर्य है कि उस व्यक्ति का संस्कार-कोश प्रबल है, किंवा अपनी स्मृति के कारण ही कोई व्यक्ति ज्ञानी होता है। अत: स्मृति को प्रामाणिक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। वल्लभ **न्यायलीलावती** में स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार भी करते हैं। उनका कहना है कि जैसे अनुमान हेतु व साध्य की व्याप्ति के स्मरण से जन्य होने के कारण प्रमाण है, जिस प्रकार शाब्द बोध आप्तपुरुष के पूर्वप्रत्यक्ष पर आधारित होने के कारण प्रमाण है, वैसे ही स्मृति भी प्रमाण है।[12] हाँ, इतना अवश्य है कि वह अपने विषय के पूर्वानुभव पर आश्रित होती है। यहाँ ध्यातव्य है कि वल्लभ के इस मत का आधार प्रशस्तपाद द्वारा विद्या के चार प्रभेदों में स्मृति को स्थान दिया जाना है। प्रशस्तपाद के अनुसार यथार्थ ज्ञान, अर्थात् विद्या, चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति तथा आर्षज्ञान।[13] अब, प्रशस्तपाद की उक्ति की यह व्याख्या कि उनके अनुसार स्मृति प्रमा या विद्या तो है पर प्रमाण नहीं, उचित नहीं होगी। इसी तरह यद्यपि नैयायिक व्याप्ति की स्थापना में तर्क की भूमिका को स्वीकार करते हैं पर वे उसे प्रामाणिक ज्ञान का साधन न मानते हुए संशय और विपर्यय के तुल्य बताते हैं। यहाँ फिर अकलंक से सहमति रखते हुए यही कहा जा सकता है कि तर्क जैसे प्रमाण के प्रामाण्य पर पुनरवलोकन अपेक्षित होगा।

यह सही है कि नैयायिक प्रभृति ऐतिह्य की गणना चार प्रमाणों में नहीं करते हैं, पर वे ऐतिह्य के प्रामाण्य पर प्रश्न नहीं उठाते हैं। ऐतिह्य से तात्पर्य जनश्रुति या परम्परा से है। वात्स्यायन **न्यायभाष्य** 2/2/1 में ऐतिह्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं— *'इति होचु:' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् ऐतिह्यम्।* अर्थात् 'ऐसा किन्हीं ने कहा था' यों वक्ता का नामनिर्देश न होते हुए जो प्रवाद (जनश्रुति)-परम्परा चली आती है उसे ऐतिह्य कहते हैं। गौतम अगले सूत्र में कहते हैं कि ऐतिह्य प्रमाण वस्तुत: शब्द में अन्तर्भूत हो जाता है, अत: उसकी पृथक् गणना करने की ज़रूरत नहीं है। यही कथन कुमारिल का भी है, हालाँकि वे स्पष्ट रूप से ऐतिह्य के शब्द में अन्तर्भाव की बात करते हैं। हाँ, पार्थसारथि मिश्र अवश्य जहाँ शब्द में ऐतिह्य का समावेश करते हैं

वह खासे संकोच के बाद, कि पुरुष-वचन की परम्परा, जो कि निर्णयजनक नहीं है, प्रमाण नहीं है, और यदि वह है तो शब्द के अन्तर्गत ही उसका समावेश होना चाहिए (**श्लोकवार्त्तिक**, अभावप्रामाण्यवाद, 57-58)।[14] यहाँ ध्यातव्य है कि स्मृति और ऐतिह्य की अवहेलना के कारण मोहन्ती का मानना है कि ऐतिहासिक ज्ञान को उसका महत्त्व भारत में हासिल न हो सका। उपर्युक्त क्रम में ही पार्थसारथि मिश्र 'लोकप्रसिद्धि' प्रमाण की भी चर्चा करते हैं जो 'ऐतिह्य' से भिन्न है। धर्माधर्म आदि का ज्ञान बहुधा 'लोकप्रसिद्धि' द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। अब पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान के अतिरिक्त 'लोकप्रसिद्धि' नाम की कोई वस्तु नहीं है।[15]

प्रमाण-परिगणना क्रम में **'सम्भव'** प्रकरण की चर्चा न्याय, मीमांसादि के ग्रन्थों में प्राप्त होती है। वात्स्यायन कहते हैं कि 'सम्भव' वह है जहाँ किसी अविनाभावी अर्थ के होने के ज्ञान से अन्य के होने का ज्ञान हो जाता है, जैसे द्रोण (बड़ा परिमाण) के होने के ज्ञान से आढक (द्रोण से छोटा परिमाण) के होने के ज्ञान और आढक के होने से प्रथ (आढक से छोटा परिमाण) के होने का ज्ञान। इसी प्रकार उद्योतकर कहते हैं कि किसी अविनाभावी अर्थ के ज्ञान से अन्य के होने का ज्ञान सम्भव प्रमाण है यथा द्रोण परिमाण के ग्रहण से आढक के होने का ज्ञान।[16] अब जिस ढंग से ये आचार्य इस प्रमाण को निरूपित करते हैं ज़ाहिर है कि वे इसका अन्तर्भाव अनुमान में करेंगे। वात्स्यायन सम्भव का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं कि अविनाभावसम्बन्ध से सम्बन्ध रखने वाले समुदाय और समुदायी में समुदाय के द्वारा समुदायी का ग्रहण सम्भव है, और वह अनुमान ही है।[17] इसी तरह कुमारिल कहते हैं कि सहस्रादि बड़ी संख्याओं के द्वारा जो शतादि छोटी संख्याओं का बोध होता है वह ज्ञान चूँकि व्याप्तिमूलक है अत: अनुमान से भिन्न नहीं है।[18] देखा जाए तो गणितीय ज्ञान की दृष्टि से यह प्रमाण बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस पात्र में एक मन धान्य आता है उसमें आधा मन धान्य का रखना या एक हज़ार में सौ की सम्भावना निहित होना, यह सम्भव प्रमाण है। अब सम्भव प्रमाण का यदि ऐसा स्वरूप है तो ज़ाहिर है यह बहुत कुछ तार्किक सत्य, विश्लेषणात्मक सत्य या गणितीय सत्य जैसा है। यदि परम्परा में इस प्रमाण का और विस्तार में विश्लेषण हुआ होता तो विशुद्ध आकारिक या तार्किक सत्य का अपेक्षया अधिक विवेचन हो पाया होता।

गणित की दृष्टि से 'सम्भव' प्रमाण की ही तरह **'परिशेष'** प्रमाण भी महत्त्वपूर्ण है। एक मन में आधे मन की व्याप्ति होने से जिस तरह 'सम्भव' का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है उसी तरह नैयायिकों का कहना है कि 'परिशेष' का अन्तर्भाव परिशेषानुमान में हो जाता है। प्रसक्त के प्रतिषेध से परिशिष्यमाण का जो ज्ञान होता है

उसे परिशेष प्रमाण कहते हैं। यह विधिमुख और निषेधमुख से द्विविध होता है। विधिमुख परिशेष का उदाहरण है—चैत्र और मैत्र में। यह चैत्र है इसके आधार पर दूसरे में मैत्र होने का ज्ञान। इसी प्रकार यह चैत्र नहीं है, यह कहने पर उसके मैत्र होने का जो ज्ञान होता है उसे निषेधमुख परिशेष कहते हैं।[19]

हाथ को अपनी तरफ मोड़ने की क्रिया से अपनी तरफ बुलाने का जो बोध होता है और बाहर की तरफ फैलाने की क्रिया से बाहर जाने की आज्ञा का जो बोध होता है अथवा ओठों पर अंगुली रखने से चुप रहने का जो संकेत मिलता है और दो संख्या बताने के लिए दो उंगली का जो संकेत किया जाता है उसे *'चेष्टा'* प्रमाण कहा जाता है। न्याय वैशेषिक आचार्यों के अनुसार इसे पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि इनसे उपयुक्त शब्द का स्मरण मात्र होता है। तान्त्रिकों ने चेष्टा को प्रमाणान्तर माना है। चेष्टा को परिभाषित करते हुए कहा गया है— *शब्दस्मारक: शब्दानुमापको वा हस्तादि क्रियाविशेष: ।* वास्तव में यह लिपि की तरह ही अभिप्रेत शब्द का स्मारक है।[20] प्रशस्तपादभाष्य में इसके स्वतन्त्र प्रमाणत्व का खण्डन करते हुए कहा गया है कि चूँकि चेष्टा के साथ संकेतित अर्थ के ज्ञान से युक्त पुरुष को ही उस चेष्टा से अर्थ का बोध होता है अत: चेष्टा अनुमान ही है, कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है— *प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात् तदप्यनुमानमेव ।*[21]

यद्यपि मीमांसक *'प्रातिभज्ञान'* या *'योगिप्रत्यक्ष'* के प्रामाण्य का खण्डन करते हैं, किन्तु यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में उसकी दावेदारी को नकारा नहीं जा सकता है। 'प्रातिभज्ञान', 'प्रतिभा', 'आर्षज्ञान' या 'प्रत्यक्ष' के भेद के रूप में परिगणित 'योगज-प्रत्यक्ष' प्रामाणिक ज्ञान के उस प्रभेद की ओर इशारा करता है जिसे अंग्रेज़ी में इन्ट्यूशन कहा जाता है। भले ही भारतीय दार्शनिक इसके स्वतन्त्र प्रामाण्य की चर्चा न करें पर इसे वे प्रामाणिक ज्ञान तो मानते ही हैं। योगिप्रत्यक्ष को लेकर बौद्धों व मीमांसकों में ज़बर्दस्त विवाद है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध नैयायिक योगिप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष का एक प्रकार-भेद सिद्ध करने के लिए अत्यधिक आतुर हैं। योगिप्रत्यक्ष प्रामाणिक ज्ञान का एक उपभेद स्वीकार करने से जहाँ बुद्ध के सर्वज्ञत्व की व्याख्या हो जाती है वहीं 'स्वानुभूति' पर आधारित धर्माधर्म की परम्परा को दार्शनिक आधार मिल जाता है। अब जिन कारणों से बौद्ध योगिप्रत्यक्ष को प्रमाण कोटि में रखना चाहेंगे उन्हीं कारणों से मीमांसक इसे कथमपि स्वीकार नहीं करना चाहेंगे। धर्माधर्म के स्रोत के रूप में एकमात्र श्रुति ही प्रमाण है और किसी योगी अथवा सर्वज्ञ को इसके लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता। फलत: मीमांसक 'सर्वज्ञत्व' और 'योगिज्ञान' के प्रत्यय को सिरे से ही खारिज कर देते हैं। योगिज्ञान को लेकर मीमांसकों से हुए उनके विवाद में बौद्धों को आश्चर्यजनक रूप से समर्थन अपने धुर विरोधी श्रीधर, जयन्त जैसे

न्यायवैशेषिक आचार्यों से मिलता है। एतत्सम्बन्धी बौद्ध-मीमांसक-विवाद न्यायवैशेषिक व मीमांसकों के विवाद में परिणत हो जाता है। आर्षज्ञान को विद्या का चतुर्थ भेद मानते हुए प्रशस्तपाद कहते हैं कि आगम का निर्माण करने वाले महर्षियों को उनके विशेष प्रकार के पुण्य से भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, धर्माधर्मादि विषयक जो प्रातिभ ज्ञान होता है उसे आर्ष कहते हैं।[22] श्रीधर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय एवं हेतु प्रभृति यथार्थ ज्ञान के साधनों के न रहने पर भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रतिभा कहते हैं तथा इस प्रतिभा को ही प्रातिभज्ञान या आर्षज्ञान कहते हैं। इस प्रातिभज्ञान द्वारा अतीत, अनागत, अतीन्द्रिय वस्तुओं का, धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान होता है। ज्ञान, तप और समाधि से ऐसे प्रकृष्ट धर्म का मनुष्य में उदय होता है जिससे प्रतिभा उत्पन्न होती है (विद्यातसमाधिजः प्रकृष्टो धर्मस्तस्मात् प्रतिभोदयः)। हालाँकि यह प्रातिभज्ञान अधिकतर ऋषियों को ही होता है, पर साधारण मनुष्यों को भी कदाचित् ऐसा ज्ञान हो जाता है। जैसे कोई छोटी बच्ची कहती है कि 'कल मेरा भाई आयेगा' और सचमुच दूसरे दिन उसका भाई आ जाता है। अब, इस ज्ञान को प्रामाणिक माना जाना चाहिए।[23] न केवल श्रीधर अपितु जयन्त भट्ट, वल्लभ प्रभृति दूसरे दार्शनिक भी उपर्युक्त तरह के प्रातिभ ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं, चाहे यह लौकिक हो या आर्ष।[24] इस प्रातिभ या आर्षज्ञान की विशेषता उसकी अपरोक्षता है। अपरोक्ष होने का यह अर्थ नहीं है कि वह प्रत्यक्ष है। जैसाकि वल्लभ ने कहा है, चूँकि आर्षज्ञान अनिन्द्रियज है अतः इसे प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अस्तु, प्रत्यक्ष-ज्ञान से भिन्न अपरोक्ष ज्ञान-रूप आर्षज्ञान को ज्ञान की स्वतन्त्र कोटि के रूप में स्वीकार करना ही उचित होगा। इसीलिए प्रशस्तपाद प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति के अतिरिक्त आर्षज्ञान को विद्या के चतुर्थ भेद के रूप में स्वीकार करते हैं।[25]

प्रमाण-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के क्रम में जैसाकि पीछे हमने देखा था, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिनके प्रामाण्य को लेकर कोई विशेष आपत्ति नहीं है और जिन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार करना होगा। प्रत्यक्ष, अनुमान के अतिरिक्त शब्द भी ऐसा ही प्रमाण है। मैं उपर्युक्त सूची में स्मृति और प्रातिभ ज्ञान को भी सम्मिलित करना चाहूँगा। वस्तुतः ज्ञान के ये पाँच साधन ऐसे हैं जिनकी कोई भी प्रौढ़ प्रमाणमीमांसा अवहेलना नहीं कर सकती। उपर्युक्त पाँच में चार वे ही हैं जिन्हें प्रशस्तपाद ने अपनी 'चतुर्विद्या' में समाविष्ट किया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति व आर्षज्ञान। शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण वैशेषिक भी नहीं मानते हैं, पर उसका प्रमात्व उनको सर्वथा अभीप्सित ही है। मैं शब्द को स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रमाण के रूप में परिगणित करना चाहूँगा। अब उपर्युक्त पाँचों प्रमाण लगभग सारे दर्शनों को स्वीकृत हैं, यदि कहीं विपरीत मत दिखाई भी देता है तो वहाँ उनका तात्पर्य बहुधा वह नहीं होता है

जो वे कहना चाहते हैं। ये पाँचों प्रमाण अलग-अलग ढंग के प्रमाण हैं जिनका किसी दूसरे में समावेश नहीं किया जा सकता। बाकी बचे दशाधिक प्रमाणों के भी प्रामाण्य को स्वीकार करना ही उचित होगा। हाँ, उनको उपर्युक्त पाँच प्रमाणों में समाविष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अर्थापत्ति, सम्भव, परिशेष और तर्क को अनुमान में समाहित किया जा सकता है। इसी तरह प्रत्यभिज्ञा का समावेश प्रत्यक्ष और स्मृति में, अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष या अनुमान में, ऐतिह्य का लोकप्रसिद्धि में और कोश का शब्द में समावेश किया जा सकता है। अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग ढंग से निरूपित उपमान प्रमाण को शब्द, अनुमान, प्रत्यक्ष में से किसी एक में अथवा उनके किसी मिलित रूप में समाविष्ट किया जा सकता है। चेष्टा और लिपि को नैयायिक प्रभृति अनुमान में अन्तर्विष्ट करना चाहेंगे, पर मैं उन्हें शब्द में ही रखना चाहूँगा।

सन्दर्भ सूची

1. मोक्षाकर गुप्त का कहना है कि वैयाकरण भी दो प्रमाण को मानते हैं। हाँ, उनके लिए ये दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और शब्द।
तथा हि वैयाकरणो ब्रूते प्रत्यक्षं शाब्दं चेति प्रमाणद्वयम्।
मोक्षाकर गुप्त, **बौद्ध-तर्कभाषा**, सं., डॉ., रघुनाथ गिरि, वाराणसी : प्राच्य प्रकाशन, 1969, पृ. 91

2. त्रिविधं प्रमाणं—प्रत्यक्षमनुमानमागत इति।
भासर्वज्ञ, **न्यायसार**, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1968, पृ. 78

3. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दश्च ते उभे।।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्राभाकराः।।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पैराणिकाः जगुः।।

4. द्रष्टव्य, गौतम, **न्यायसूत्र**, 2/2/1 से 2/2/12

5. **न्यायसूत्र**, 2/2/2

6. विप्रतिपत्तयश्चात्र संख्यालक्षणगोचरफलविषयाः सन्ति। तत्र संख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थ-माहमानं द्विविधम्। **मनोरथनन्दी**, प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति, 2/1

7. द्रष्टव्य, जगन्नाथ उपाध्याय का प्राक्कथन, **बौद्ध-तर्कभाषा**, सं.डॉ. रघुनाथ गिरि, वाराणसी : प्राच्य प्रकाशन, 1969, पृ. 23

8. देखें, जयन्त भट्ट, **न्यायमञ्जरी**, आनन्द झा कृत हिन्दी अनुवाद सहित, सं.डॉ. किशोरनाथ झा, कामेश्वर सिंह, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2001, प्रथम भाग, पृ. 68-149
9. देखें, वही, पृ. 77
10. यहाँ ध्यातव्य है कि डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का मन्तव्य इसके ठीक विपरीत है। डॉ. शर्मा अपने 'प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श' शीर्षक लेख में कहते हैं, "प्रमाणान्तर्भाव का प्रश्न तो प्रमाणों के सम्प्लवात्मक प्रकृति का विरोधी पक्ष है और यह प्रमाण-व्यवस्था का साथ पाकर लाघव को प्राप्त होता है।" पर जैसाकि हमने देखा, प्रमाणव्यवस्थावादी बौद्धों में इस तरह के विमर्श का कोई तार्किक आधार नहीं बनता, क्योंकि प्रमेयाश्रित प्रमाण-व्यवस्था को मानने वाले बौद्ध चूँकि दो ही तरह के प्रमेय मानते हैं अत: उनके लिए दो तरह के प्रमाण ही निगमित किये जा सकते हैं, न तो इससे अधिक और न इससे कम। वस्तुत: प्रमाणों का साङ्कर्य या सम्प्लव मानने वालों में ही प्रमाणान्तर्भाव पर कोई विमर्श हो सकता है। इसीलिए बौद्ध 'प्रमाणान्तर्भाव' के स्थान पर 'प्रमाणान्तरभाव' की चर्चा करते हैं। डॉ. शर्मा सम्भवत: इस महत्त्वपूर्ण शब्दभेद की उपेक्षा कर जाते हैं। डॉ. शर्मा के लेख के लिए देखें उनका ग्रन्थ, **बौद्ध प्रमाण दर्शन**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007, पृ. 87-98
11. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते।
    अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। भर्तृहरि, **वाक्यपदीय** 1/123
12. स्मृतिरपि मानान्तरम् अर्थनिश्चयहेतुत्वात्।
    देखें, वल्लभ, **न्यायलीलावती**, सं. पं. हरिहर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1991, पृ. 620-21
13. विद्यापि चतुर्विधा-प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।
    प्रशस्तपादभाष्य, सं.पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1977, पृ. 441
14. पुरुषवचनपरम्परा = ऐतिह्यम्, वटेवटे वैश्रवण इत्यादि:। तच्चानिर्णायकत्वात् प्रमाणमेव न भवति; तद्भावेऽप्यागमान्तर्भावात्।
    पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नाकर, **श्लोकवार्त्तिक**, सं. गंगासागर राय, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1993, पृ. 349
15. लोकप्रसिद्धिरपि प्रत्यक्षादिष्वेवान्तर्भूतेत्यौत्पत्तिकसूत्रे निराकृतम्।
    देखें वही, पृ. 349
16. देखे, **न्यायसूत्र** 2/2/1 पर वात्स्यायन कृत भाष्य और उद्योतकर कृत **वार्त्तिक**।
17. अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयो: समुदायसमुदायिनो: समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भव:, तदप्यनुमानमेव। वात्सयायन, **न्यायभाष्य** 2/2/2.
18. कुमारिलभट्ट, **श्लोकवार्त्तिक** — अभावप्रामाण्यवाद, 58

19. द्रष्टव्य, भीमाचार्य झलकीकर, **न्यायकोश,** भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1996, पृ. 484
20. देखें, वही, पृ. 281-282
21. **प्रशस्तपादभाष्य,** पृ. 529
22. देखें, वही, पृ. 627-628
23. श्रीधर, **न्यायकंदली,** सं.पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1997, पृ. 628-629
24. दूसरी ओर कुमारिल के अनुसार प्रतिभा चाहे लौकिक हो या योगियों की, वह मिथ्या ही है, प्रमाणिक नहीं—

    लौकिकी प्रतिभा यद्वत्प्रत्यक्षाद्यनपेक्षिणी।
    न निश्चयाय पर्याप्ता तथा स्याद्योगिनामपि।।
    कुमारिलभट्ट, **श्लोकवार्त्तिक** — प्रत्यक्षसूत्र, 32
25. **प्रशस्तपादभाष्य**, पृ. 441

न्यायवैशेषिकपरम्परा और देहात्मवाद*

सच्चिदानन्द मिश्र

अपने मूलगामी स्वरूप में न्यायवैशेषिक परम्परा आत्मवादी, नित्यतावादी व शाश्वतवादी परम्परा रही है। इसको देहात्मवादी मार्ग पर ले जाने की न तो कोशिश बीसवीं शताब्दी के पूर्व किसी न्यायवैशेषिक परम्परा के आचार्य ने की और न ही न्यायवैशेषिक परम्परा को आत्मवादी, नित्यतावादी व शाश्वतवादी परम्परा से अलग किया जा सकता है। विगत कुछ वर्षों में कुछेक आचार्यों ने, प्रमुखतया आचार्य बदरीनाथ शुक्ल व प्रो. विश्वम्भर पाहि ने, न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद के लिए स्थान बनाने का प्रयास किया दोनों कुछ मौलिक प्रतिष्ठापनाएँ लेकर आये हैं तथा दोनों ही न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद को स्थान देने के लिए कटिबद्ध हैं। दोनों की ही एक समान विचार पद्धति यह है कि वे न्यायवैशेषिक परम्परा के मान्य सिद्धान्तों के साथ सङ्गति बनाते हुए देहात्मवाद के लिए स्थान बनाने की कोशिश करते हैं। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जहाँ अपने देहात्मवादविषयक विवेचन में कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि की भी व्याख्या करते हुए, इनके साथ भी देहात्मवाद को सङ्गत रखते हुए, साथ ही साथ पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की व्यवस्था को भी सङ्गत रखते हुए, देहात्मवाद का उपपादन करते हैं, प्रो. विश्वम्भर पाहि न्यायवैशेषिकपरम्परा की विचारपद्धति के साथ कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम को भी सङ्गत नहीं पाते। इसके अतिरिक्त प्रो. विश्वम्भर पाहि के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा में न तो पुनर्जन्म की कोई जगह है और न ही मोक्ष के लिए कोई स्थान बचता है। इस कारण प्रो. विश्वम्भर पाहि का देहात्मवाद कुछ ज़्यादा ही चार्वाकसम्प्रदायीय लगता है। इसके विपरीत आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद अपने मूलगामी रूप में न तो उतना विध्वंसक है और न ही परम्परागत रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों का प्रबल विरोध करता हे। प्रस्तुत आलेख में मैं यह आलोचित करने की कोशिश करूंगा कि क्या आचार्य बदरीनाथ शुक्ल या प्रो. विश्वम्भर पाहि द्वारा प्रस्तुत देहात्मवाद तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है? अगर इनमें से कोई भी मत तर्कसंङ्गत है तो उसको न्यायवैशेषिक परम्परा की स्वाभाविक विकासगति के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि न्यायवैशेषिक परम्परा सबसे ज़्यादा भरोसा अगर किसी पर करती है तो वह तर्क पर ही।

---

* प्रस्तुत आलेख अखिल भारतीय दर्शन परिषद के 52वें अधिवेशर (21 दिसम्बर से 23 दिसम्बर, 2007 काशी विद्यापीठ, वाराणसी) में आयोजित 'देहात्मवाद' नामक सङ्गोष्ठी में प्रस्तुत किया गया व इस पर चर्चा की गई।

(1)

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल अपने सुप्रसिद्ध 'न्यायशास्त्रीयविचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना' शीर्षक आलेख (उन्मीलन, वर्ष 14, अंक 2, जुलाई 2000, पृ. 146-147) में देहात्मवाद के साधन के लिए जो प्रतिज्ञा करते हैं, वह है—'आत्मा नातिरिक्तं द्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिलप्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्'—आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मा के द्वारा साधनीय जो भी प्रयोजन हैं वे देह व मन के द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते हैं। अतिरिक्त आत्मा के द्वारा साधनीय प्रयोजन के रूप में स्मृति व प्रत्यभिज्ञान का व्यवस्थापन, कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता का व्यवस्थापन आदि शामिल हैं। इस प्रतिज्ञा के द्वारा अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न को विशेष गुण न मान कर इनको सामान्य गुण मानने का पक्ष उपस्थापित करते हैं। परम्परागत न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आत्मा के विशेष गुण स्वीकार किये गए हैं। इनमें से ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का धर्म मान लेना चाहिए व इन्हें देह का सामान्य गुण मानना चाहिए न कि विशेष गुण। इन्हें देह का विशेष गुण मानने में समस्या यह आयेगी कि पृथिवी, जल, तेज या वायु के जो भी विशेष गुण स्वीकार किये जाते हैं, उन सभी विशेष गुणों में यह एक सामान्य विशेषता है कि वे सभी या तो कारणगुणपूर्वक होते हैं, कारणगुण से जन्य होते हैं, या पाकज हुआ करते हैं। जैसे दृश्यमान् जल का रूप उसके आरम्भक अवयव के गुण से आरम्भ होता है, वस्त्र का रूप तन्तु के रूप से जन्य होता है और कच्चे आम में पाक के द्वारा पके आम का रूप, रस, स्पर्श आदि उत्पन्न हो जाया करता है। आत्मा को शरीर से अतिरिक्त न मानने पर ज्ञानादि को शरीर का ही गुण मानना होगा। शरीर पाँच भूतों से निर्मित है, इस कारण अगर ज्ञानादि को शरीर का विशेष गुण माना जाये तो ज्ञानादि को भी या तो कारणगुणपूर्वक मानना पड़ेगा या फिर पाकज मानना पड़ेगा। यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सिद्ध हो जायेगा। परन्तु ज्ञानादि को कारणगुणपूर्वक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान क्षणिक होता है। ज्ञान की क्षणिकता को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा क्रमशः उत्पद्यमान अनुभवों की व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इनके कार्यकारणभाव की भी व्याख्या करनी मुश्किल हो जायेगी। न केवल ज्ञान बल्कि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न इन पाँचों की ही स्थिति एक समान है। ज्ञानादि को पाकज भी नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि यह अनुभवविरुद्ध है। इस समस्या से बचने के लिए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल चातुर्यपूर्वक ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्य गुण मानने का पक्ष रखते हैं। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्य गुण मानने पर उपर्युक्त आशङ्काओं से

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल बच जाते हैं, क्योंकि सामान्य गुणों के बारे में अनिवार्यता नहीं है कि वे पाकज हों या कारणगुणपूर्वक हों। इसी कारण वे विशेष गुण की परिभाषा को अपने हिसाब से उपस्थापित व परिष्कृत करते हैं। आचार्य शुक्ल धर्म, अधर्म और संस्कार को मन के विशेष गुणों के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। ज्ञानादि देह के विशेष गुण नहीं हो सकते, क्योंकि विशेष गुण का लक्षण उनमें नहीं जाता है। वे देह के सामान्य गुण हैं। यहाँ पर आचार्य शुक्ल इस समस्या को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि अगर ज्ञानादि देह के सामान्य गुण हैं तो फिर तो हर समय ही सामान्य गुणों की अनिवार्यता रहने के कारण सुषुप्ति के काल में भी ज्ञानादि की सत्ता को देह में स्वीकार करना अनिवार्य होगा। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल अपने आलेख में अनेक आक्षेपों को उपस्थापित कर उनका विधिवत् समाधान करते हैं, तथा अपने देहात्मवाद पक्ष में अनेकविध लाघवों का प्रदर्शन भी करते हैं। इनमें से अधिकांश आक्षेप उनकी अपनी प्रतिभा के द्वारा उपस्थापित हैं, अत: उन आक्षेपों व समाधानों पर विचार करने का सवाल ही नहीं उठता है। हमारा पक्ष यह है कि ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्य गुण माना जाये या विशेष गुण, यह प्रश्न तो प्राथमिकता के क्रम में अनन्तरभावी है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव है? अगर ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव हो तब यह प्रश्न उठाया और विचारित किया जा सकता है कि इनको सामान्य गुण माना जाये या विशेष गुण?

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञानादि को देह का गुण मानने में अनेक दोष प्रदर्शित किये गए हैं। यहाँ पर यह देखना चाहिए कि क्या आचार्य बदरीनाथ शुक्ल उन आपत्तियों का निराकरण करने में सक्षम हैं? निम्न आपत्तियाँ देहात्मवाद पर उठायी जातीं हैं—

1. अगर शरीर ज्ञानादि का आश्रय होता तो मृत शरीर को भी चेतन होना चाहिए था, क्योंकि मृत शरीर शरीर नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है। मृत शरीर में व्यभिचार होने के कारण शरीर को ज्ञानादि का आधार नहीं माना जा सकता है।[1]
2. शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यकाल में जो विलोकित हैं, वार्धक्यकाल में उनके स्मरण की अनुपपत्ति होगी।[2]
3. सद्य: समुत्पन्न बालक की स्तनपान में जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति प्रवृत्ति के लिए आवश्यक इष्टसाधनताज्ञान न रहने के कारण नहीं हो सकेगी। शरीरातिरिक्त आत्मा का चैतन्य मानने पर पूर्वजन्म में अनुभव के द्वारा प्राप्त ज्ञान के स्मरण के आधार पर इष्टसाधनताज्ञान सम्भव है।[3]

4. ज्ञानादि को देह का गुण मानने पर कृतहान व अकृताभ्यागम की आपत्ति आयेगी, क्योंकि जिस शरीर के द्वारा पाप या पुण्य किये गए हैं, उसके द्वारा उस पाप या पुण्य का फल नहीं भोगा जाता है।[4]

क्या इन दोषों का निवारण आचार्य बदरीनाथ शुक्ल कर सके हैं? आपाततः तो ऐसा लगता है। प्रथम दोष का निवारण करने के लिए वे कहते हैं कि मन में धर्म, अधर्म व अदृष्ट रहते हैं, परन्तु मरण के काल में शरीर के साथ मन के सम्बन्ध का विनाश हो जाता है इस कारण शरीर के मृत होने के काल में शरीर का चैतन्य अनुभव में नहीं आता है। न्यायवैशेषिकपरम्परा के अनुसार शरीरातिरिक्त आत्मा मानने के पक्ष में भी इस आपत्ति का समाधान यही दिया जाता है, क्योंकि आत्मा को विभु मानने के कारण आत्मा का अभाव तो मृत शरीर में भी नहीं स्वीकारा जा सकता। इस कारण इस आपत्ति का समाधान तो समुचित ही है।

द्वितीय आपत्ति का समाधान यह देते हैं कि अनुभवात्मक ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है, परन्तु उस ज्ञान से जन्य संस्कार मन में उत्पन्न होता है। उस मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में जो भी अनुभूत रहा है उसका वार्धक्यावास्था में स्मरण सम्भव है। हालाँकि जिसको अनुभव हो उसी को संस्कार व उसी को स्मरण होना चाहिए, इस कारण यह समाधान पूर्ण रूप से तो नहीं, फिर भी संतोषजनक माना जा सकता है।

तृतीय आपत्ति का समाधान देने के लिए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल कहते हैं कि देहात्मवाद में अनुभव का संस्कार के प्रति व संस्कार का स्मरण के प्रति स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्ध से कारणत्व है, पूर्वजन्म के शरीर का सहयोगी जो मन है उस मन का पूर्वजन्म के शरीर से जन्य अदृष्ट के कारण उत्पन्न नितान्त बालशरीर में भी प्रवेश हो जाता है। इस कारण पूर्वजन्मानुभूत अर्थ का स्मरण हो कर इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। इस कारण जातमात्र बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति की व्याख्या करने में कोई असुविधा नहीं है। यह समाधान आपाततः रमणीय तो लगता है परन्तु यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि पूर्वजन्म के शरीर के अदृष्ट के कारण नितान्त बालशरीर में मन का प्रवेश किस प्रकार से सम्भव है? क्योंकि मन तो इन्द्रिय के रूप में ही न्यायवैशेषिकपरम्परा में स्वीकार किया गया है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने भी मन को करणमात्र माना है। वे स्वयं ही कहते हैं—'मनसश्च तदुपकरणमात्रत्वं नात्मत्वमिति'। इस प्रकार का वक्तव्य देते हुए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल भूल जाते हैं कि न्यायवैशेषिकपरम्परा की साधारण मान्यता के आधार पर करण की प्रवृत्ति चेतन से अधिष्ठित हुए बिना नहीं सम्भव है। कोई नित्य अधिष्ठाता तो आपको स्वीकार्य है नहीं जो इस मन का अधिष्ठाता हो सकता हो, और जो आपके द्वारा अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार भी किया जाता है शरीर, वह पूर्व का तो नष्ट है, नवीन अभी उत्पन्न नहीं है।

तो किस प्रकार से मन का नवीन शरीर में प्रवेश हो सकेगा? नवीन शरीर तो उत्पन्न होकर तुरन्त तो मन का अधिष्ठाता नहीं हो सकेगा। अगर ईश्वर के द्वारा मन का अधिष्ठान स्वीकार करने का पक्ष रखें तब तो शरीर को कर्त्ता मान पाना सम्भव न होगा। फिर तो ईश्वर ही कर्त्ता होगा। इस कारण इस दोष के चंगुल से आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित नवदेहात्मवाद बच सकेगा, ऐसा कतई नहीं लगता। यह दोष तो दुर्निवार है।

चतुर्थ आपत्ति का समाधान देने का प्रयास करते हुए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल विचित्र मार्ग का अन्वेषण करते हुए कहते हैं कि, "वर्तमान शरीर के द्वारा किये गए जिन कर्मों का फल अभी तक भोगा नहीं गया है उन कर्मों के द्वारा उत्पन्न धर्म व अधर्म रूपी अदृष्ट का आश्रय जो मन है, वही मन उन कर्मों का अधिष्ठाता भी है, उस मन का पूर्वजन्मकृत कर्मों से जन्य अदृष्ट के द्वारा उत्पादित शरीर में प्रवेश हो जाता है तथा उस शरीर में उन कर्मों का फलभोग भी सम्भव होता है, इस कारण उन कर्मों की सार्थकता भी सम्भव है। सर्वथा नूतन शरीर में भी पूर्वदेह के द्वारा कृत कर्मों का ही फल प्राप्त होता है, इस कारण अकृताभ्यागम भी नहीं है। देहात्मवाद में यह नियम नहीं मानना है कि जिसने जो कर्म किया है उस कर्म का फल उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि इस प्रकार की कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता का स्वीकार देहातिरिक्तात्मवाद के चिरकाल से आरूढ़ वासनामूलक होने के कारण त्याज्य है। उसके स्थान पर यह नियम मानना ही उचित है कि जिस मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर के द्वारा कर्म किया गया है, उसका फल उसी मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से भोगा जाता है।[5] यहाँ आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का आशय यह है कि सर्वथा नवीन देह में भी पूर्वकृत कर्मों का उपभोग होने के कारण न तो कृतहानि है और न ही अकृताभ्यागम। इस समाधान के औचित्य पर विचार करना चाहिए। क्या इस प्रकार से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन युक्तिसङ्गत है? कृतहानि व अकृताभ्यागम को दोष के रूप में इसी कारण प्रदर्शित किया जाता है कि दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में एक न्यायव्यवस्था स्वीकारी जाती है—जिसने अच्छा कार्य किया है उसको उसका पुरस्कार व जिसने गलत कार्य किया है उसको उसके कर्म का दण्ड प्राप्त हो। उपर्युक्त रीति से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव की व्यवस्था मानने पर तो न्यायव्यवस्था के रूप में उक्त दार्शनिक सिद्धान्त का महत्त्व नहीं ही रहेगा। इस नवदेहात्मवाद में कृतहानि व अकृताभ्यागम का वारण कर पाना वस्तुत: सम्भव नहीं दिखायी देता है। एक साम्य दृष्टान्त के द्वारा उपर्युक्त रीति से किये जा रहे आपत्ति वारण का औचित्य व अनौचित्य सुस्पष्ट हो जाएगा। मन कर्त्ता नहीं है, उपकरण है। उसके साहाय्य से उक्त आपत्ति का वारण कुछ ऐसा ही है जैसे चाहे जिसने भी तलवार चलायी हो, उस

तलवार के द्वारा चाहे जिसने भी हत्या की हो, परन्तु दण्डित वह होगा जिसके पास तलवार पायी जायेगी। क्या इस प्रकार से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन लोक-व्यवस्था में स्वीकार किया जा सकता है? शास्त्रीय सिद्धान्त लौकिक अभ्युपगमों पर आधारित होते हैं, इसी कारण न्यायसूत्रकार गोतम ने सोलह तत्त्वों में दृष्टान्त को भी अन्तर्भूत किया है। दृष्टान्त उसी को कहा जाता है जिसमें लौकिकों व परीक्षकों का बुद्धिसाम्य हो।[6] मन भी उपकरण है तथा इस कारण तलवार स्थानीय ही है। उसके सहभाव या असहभाव से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन भली प्रकार से हो सकेगा, यह मानना लौकिक अभ्युपगमों के विरुद्ध है तथा न्यायवैशेषिकपरम्परा से मान्य सिद्धान्तों के साथ असङ्गत है।

दूसरी कुछ ज़्यादा ही विचित्र बात इस मत में यह है कि क्या अचेतन को अधिष्ठाता माना जा सकता है? अधिष्ठाता को तो चेतन ही होना चाहिए। लोक में कुल्हाड़ी आदि को कर्त्ता के अधिष्ठान की आवश्यकता होती है, कर्त्ता को करण के द्वारा अधिष्ठित होने की आवश्यकता नहीं होती है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल मन को अचेतन उपकरण भी मान रहे हैं और दूसरी तरफ उसे शरीर का अधिष्ठाता भी बनाना चाह रहे हैं। अधिष्ठाता तो कर्त्ता ही हो सकता है, अचेतन व करण नहीं। इस कारण यह नवीन व विचित्र लौकिक दृष्टान्तों से विरुद्ध मार्ग के अन्वेषण का प्रयास है। यदि इस प्रकार के देहात्मवाद के साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करना अभीष्ट हो तब तो ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषों की भी आपत्ति आयेगी।

इस कारण अगर ज्ञानादि को शरीर का धर्म मान पाना ही सम्भव नहीं है तो उसके सामान्यगुण या विशेषगुण होने की चर्चा काकदन्त परीक्षा के समान हो जाती है। इस कारण आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के द्वारा ज्ञानादि को शरीर का सामान्य गुण स्वीकार करने के लिए जो विस्तृत वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है वह निरर्थक है। देहात्मवाद को स्वीकार करने में अनेक लाघवों का भी उपस्थापन आचार्य शुक्ल के द्वारा किया गया है, परन्तु जो लाघव लौकिक अभ्युपगमों व प्रमाणों का विरोधी हो उस लाघव को तर्क के रूप में प्रस्तुत करना असङ्गत व अनुचित है। इस कारण आचार्य बदरीनाथ शुक्ल द्वारा उपस्थापित देहात्मवाद के लिए न्यायवैशेषिक परम्परा की चिन्तनपद्धति में वस्तुतः कोई उचित स्थान नहीं दिखायी देता। यह निश्चित तौर पर बिना अनेक विरोधाभासों को बुलावा दिये स्वीकृत नहीं हो सकता।

(2)

प्रो. विश्वम्भर पाहि भी एक प्रकार से देहात्मवाद को ही अपने ग्रन्थ **वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श** ग्रन्थ में न्यायवैशेषिक परम्परा के

सिद्धान्तों के साथ सङ्गत मानते हैं। परन्तु प्रो. पाहि की दृष्टि भिन्न है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल की तरह प्रो. पाहि कृतहानिशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता को स्वीकार करने को उत्सुक नहीं दिखायी देते हैं। वे कृतहानिशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता को किसी भी तरह से प्रमाणों के आधार पर निगमित नहीं मानते हैं। इस कारण जिस प्रकार आचार्य शुक्ल कृतहानिशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता के साथ देहात्मवाद को सङ्गत बनाने की कोशिश करते हैं वैसा कोई भी प्रयास प्रो. पाहि के द्वारा नहीं किया गया है। यहाँ तक कि वस्तुतः कृतहानि व अकृताभ्यागम को देखकर ही न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकृत नित्यात्मवाद का प्रो. पाहि अस्वीकार कर देते हैं। खुद उनके ही शब्दों में, आत्मा की नित्यत्वसिद्धि के लिए उपलब्ध युक्तियाँ मूलरूप में जगत् की कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम शून्यता पर आश्रित हैं। कृतप्रणशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता की तथ्यपरकता अस्वीकृत होकर केवल उनकी आदर्शस्वरूपता स्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व असिद्ध रह जाता है।[7] इस प्रकार से आत्मा को नित्य न मानकर उसे सन्तानस्वरूप मानने का पक्ष प्रो. पाहि रखते हैं। हालाँकि प्रो. पाहि वैशेषिकपरम्परा के मान्य सिद्धान्तों का सामान्यतया अस्वीकार नहीं करते हैं, जैसे कि धर्मधर्मिभेद, प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता, असत्कार्यवाद या आरम्भवाद, यथोपलब्धिव्यवस्था इत्यादि। मूलरूप में प्रो. पाहि की आपत्ति यही है कि जिस प्रकार से न्यायवैशेषिक परम्परा में लौकिक अबाधित प्रतीति का उल्लंघन नहीं किया जाता है, उसके परिप्रेक्ष्य में वे आत्मा की सन्तानरूपता के बारे में ही अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह पूछा जा सकता है कि क्या आप बौद्ध दार्शनिकों की तरह संघातवादी हैं? तो इसके उत्तर में प्रो. पाहि का कथन है कि नहीं। न्यायवैशेषिक परम्परा के मूलभूत प्रमाणमीमांसीय व तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में संघातवाद न्यायवैशेषिक परम्परा का सिद्धान्त नहीं हो सकता है। इसी कारण प्रो. पाहि आत्मा को अक्षणिक व ज्ञानादि का आश्रय स्वीकार करते हैं और उसे शरीरादिसंघात से अतिरिक्त भी मानते हैं, परन्तु नित्य आत्मा का स्वीकार नहीं करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में—"प्रतिसंधान के आधार पर पुरुष का एकत्व, अक्षणिकत्व एवं ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुखदुःखादि का आश्रयत्व प्रमाणसिद्ध है। प्रतिसंधान एवं कारकसिद्धान्तमूलक अनुमानों से पुरुष का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से भेद सिद्ध होने पर भी निरन्तर परिवर्तनशील विभिन्न जैविक तन्त्रों के अवयवी सन्तान से पुरुष भिन्न है, यह सिद्ध नहीं हो पाता है।"[8] इस प्रकार यह तो सामान्यतया ही सिद्ध हो जाता है कि जिन तर्कों का प्रस्तुतीकरण मैंने आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के देहात्मवाद का खण्डन करने के लिए किया है उनमें अनेक की वैधता स्वयं प्रो. पाहि को स्वीकार्य है। इसके बावजूद देहातिरिक्त आत्मा प्रो. पाहि को स्वीकार नहीं है। जातमात्र बालक की

स्तनपान के लिए होने वाली प्रवृत्ति को प्रो. पाहि जैविकीय नियमों के आधार पर व्याख्यायित करते हैं।[9]

प्रो. पाहि के देहात्मवाद की समस्या कुछ यह है कि वे न्यायवैशेषिक परम्परा के आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत तर्कों को स्वीकार तो कर रहे हैं परन्तु उनकी गहराई तक नहीं जा पा रहे हैं। प्रतिसंधान व स्मरण भी एक प्रकार से कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता के ही प्रकारान्तर हैं—जिसने अनुभव किया है वही स्मरण करता है, अन्य नहीं। इस कारण प्रो. पाहि की यह मान्यता कि कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता लौकिक दृष्टान्तों के साथ सङ्गत नहीं हैं, उचित नहीं है। जिसने देखा है उसी को स्मरण व प्रत्यभिज्ञान होना ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कृतप्रणाशशून्यता का ही अभ्युपगम है, जो कि आपामर प्रतीति से पुष्ट है। इसी प्रकार जिसने नहीं देखा है उसे स्मरण व प्रत्यभिज्ञान न होना, आपामर प्रतीति व स्वीकृति के द्वारा अकृताभ्यागमशून्यता का ही स्वीकार है। क्या हम लोकप्रतीति का अपलाप किये बिना इसका अस्वीकार कर सकते हैं? निश्चित तौर पर नहीं। इस कारण प्रो.पाहि का यह कथन कि "कर्मवाद, संसारवाद एवं पुनर्जन्मवाद जैसी भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की साधारण मान्यताओं को सांस्कृतिक प्रभाव के कारण ही न्यायवैशेषिक-दर्शन में मान्यता प्राप्त है, न कि प्रमाणसिद्ध स्वतन्त्र आधारभूत सिद्धान्त के रूप में। औपनिषदिक आत्मवाद एवं ईश्वरवाद के प्रभाव से तथा बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं के मध्य सीमा को सुस्पष्ट करने की आवश्यकता से ही आत्मा की नित्यता एवं ईश्वर-विषयक मान्यताएँ न्यायवैशेषिक दर्शन में स्वीकृत हुई हैं, न कि परम्परा के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों से निष्कृष्ट होने के कारण"[10] असङ्गत सिद्ध होता है, क्योंकि वस्तुत: आत्मा की देहातिरिक्तता व नित्यता न्यायवैशेषिकपरम्परा के आधारभूत ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त पर स्वीकृत हैं। आत्मा को सन्तानस्वरूप में स्वीकार करना ही प्रत्यभिज्ञान व स्मृति की व्याख्या के लिए पर्याप्त होगा, यह प्रो. पाहि का अभ्युपगम है। परन्तु विचार करने योग्य तथ्य यह है कि क्या इस प्रकार का मत बौद्धपरम्परा में स्वीकृत आत्मसिद्धान्त का अनुवाद नहीं होगा? बौद्धपरम्परा में भी आत्मा को सङ्घातात्मक व क्षणिक माना गया है। इस बौद्धपरम्परा के अनात्मवाद से अपना अन्तर प्रो. पाहि यह बताते हैं कि बौद्धपरम्परा में सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार नहीं किया जाता है, किन्तु वे सन्तान को अतिरिक्त स्वीकार करते हैं। सोचना यह चाहिए कि क्या इस प्रकार से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार किया जा सकता है? क्या सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान प्रत्यक्षसिद्ध है? वस्तुत: सन्तान का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं सम्भव है। घट, पटादि में अवयवों से अतिरिक्त अवयवी का स्वीकार तो सम्भव है क्योंकि घटादि को क्षणिक नहीं माना जाता है। शरीर की तो क्षणिकता खुद न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकार की

जाती है, क्योंकि हमारा प्रतिसन्धान ही बाल्यकालीन शरीर व वृद्धावस्था के शरीर का भेद सिद्ध कर देता है। परन्तु यह क्षणिकता वैसी क्षणिकता नहीं है जैसी क्षणिकता बौद्धपरम्परा में स्वीकृत है। न्यायवैशेषिकपरम्परा में क्षणिकता का आशय प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति व तृतीय क्षण में विनाश से है। बौद्ध परम्परा उत्पत्ति व विनाश के क्षण में कोई अन्तर नहीं करती। स्थिति का क्षण तो स्वीकार्य ही नहीं है। इस कारण शरीर की स्थिरता व अक्षणिकता ठीक उसी प्रकार की नहीं है जैसी घट, पटादि की स्थिरता व अक्षणिकता। प्रो. पाहि दोनों को असावधानतया एक समान आधार पर व्यवस्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। घट, पटादि में उस प्रकार से भेदाभेद की समस्या नहीं है जैसी कि शरीरादि में। शरीरादि में विरुद्धधर्मसंसर्ग भासित होता है, वह शरीर-भेद को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। सार रूप में, सन्तान को केवल क्रमशः स्वल्प समय के भेद से भिन्न काल में जायमान सन्तानियों के समूह से ज़्यादा कुछ मानना उचित नहीं दिखता है। इस रीति से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान की सत्ता स्वीकार करने से तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं आता है, यह केवल शाब्दिक अन्तर होकर रह जाता है, जैसाकि बौद्ध परम्परा में स्वीकृत है, परन्तु प्रो. पाहि 'उससे भिन्न आत्मतत्त्व को स्वीकार करना चाहिए' इस न्यायमत से सहमत हैं। सचमुच में अगर सन्तानियों से भिन्न किसी आत्मा या धर्मी को स्वीकार करना है तो उसको निश्चय ही शरीर, इन्द्रियादि सन्तानियों से अतिरिक्त होना चाहिए, जैसा कि वाचस्पति मिश्र दावा करते हैं।[11] इसको तात्त्विक रूप से स्वीकार करते हुए प्रो. पाहि प्रवाह को ही अवयवी के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में, "निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीररूपी अवयविसन्तान स्वयं एक अवयवी नहीं है अपितु प्रवाहस्वरूप सन्तान ही है"[12] तब या तो अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी को न मानें अथवा अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी से भिन्न आत्मा को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में प्रो. पाहि का मत स्वयं अपने विरोधाभासों से ही खण्डित हो जाता है। जिसने अनुभव किया है उसे ही स्मरण होना चाहिए, इस प्रमाणमीमांसीय अभ्युपगम के आलोक में शरीरातिरिक्त आत्मा की स्वीकृति अपरिहार्य सी ही दिखाई देती है। पुरुषार्थमीमांसीय संदर्भ में कृतप्रणाश-शून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता वस्तुतः ज्ञानमीमांसीय स्मरण व प्रत्यभिज्ञान के नियम के ही प्रतिबिम्बन हैं। इसे इस कारण भी देखा जा सकता है कि जिस प्रकार अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और वही संस्कार कालान्तर में स्मरण का उत्पादक होता है, ठीक उसी साम्यसिद्धान्त का अनुसरण करते हुए हमारे शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा आत्मा में अदृष्ट उत्पन्न होता है, जो कि कालान्तर में शुभाशुभ फल देता है।

"शरीराद्यतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने पर शरीरादि को लेकर होने वाले आत्मविषयक गौरादि प्रत्ययों को भ्रम स्वीकार करना होगा, जो कि लोकप्रतीति का

निरादर होगा, न्यायवैशेषिक परम्परा की पद्धति अबाधित लोकप्रतीति का समादर करती चलती है, उसका निरादर नहीं करती है" इस कारण भी प्रो. विश्वम्भर पाहि शरीरादि से भिन्न किसी नित्य आत्मा को स्वीकृति देने के पक्ष में नहीं हैं। इस पर भी मेरा विनम्र निवेदन है कि परम्परा से लोग शब्दों का प्रयोग अभिधा व लक्षणा के आधार पर करते हैं।[13] कुछ उसी प्रकार 'मैं' शब्द का भी उभयथा प्रयोग होता है—शरीर के लिए भी व शरीर से परे किसी बाह्य प्रत्यक्षाविषयवस्तु के लिए भी। 'मैं गौर हूँ, स्थूल हूँ' इत्यादि प्रयोग शरीर को आधार बनाकर व 'मैं ज्ञानवान् हूँ, इच्छावान् हूँ' इत्यादि प्रयोग शरीर से परे किसी बाह्यप्रत्यक्षाविषय-वस्तु को आधार बनाकर होते हैं। सामान्य लोकप्रतीति हमेशा व्यवस्थापक की भूमिका नहीं निभा सकती है। सूर्यादि के छोटे होने की अबाधित प्रतीति भी सूर्यादि के छोटे होने का व्यवस्थापन नहीं करती है, क्योंकि वह अन्य प्रमाणों से बाधित हो जाती है। उसी प्रकार शरीर के आत्मत्व की स्वीकृति का पक्ष भी है। इसी कारण शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने का पक्ष रखा जा रहा है, जिसे कि प्रवाहरूप में स्वीकारने का पक्ष मानने में प्रो. विश्वम्भर पाहि की भी स्वीकृति है।

यह सच है कि न्यायपरम्परा के विरोध में बौद्धपरम्परा खड़ी रही है। इस कारण प्राय: तत्त्वमीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त उनके द्वारा उपस्थापित आक्षेपों के प्रतिपक्ष में व्यवस्थापित व साधित किये गए हैं। इसी कारण ज्ञान, शब्द व शरीर की क्षणिकता का स्वीकार करते हुए भी नैयायिक उस क्षणिकता को बौद्धपरम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न प्रकार की स्वीकार करते हैं। परन्तु इस आधार पर यह कहना अनुचित होगा कि आत्मा की नित्यता व शरीरातिरिक्तता न्यायवैशेषिकपरम्परा के पद्धतिमूलक सिद्धान्तों से निगमित नहीं होती है। बौद्ध परम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के आलोक में प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना सम्भव ही नहीं दिखता है। अगर हर वस्तु युगपद् उत्पाद-विनाशशील है, उत्पत्ति व विनाश के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण अगर नहीं है, तो आख़िर किस प्रकार संस्कार के प्रभाव से प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या सम्भव हो सकेगी? क्योंकि क्षणिकता के आलोक में तो इस संस्कार को भी क्षणिक ही मानना पड़ेगा। यही वह विचारणीय बिन्दु है जहाँ से आत्मविषयक चिन्तन नैयायिक प्रारम्भ करते हैं। समस्या इतनी सतही नहीं है जितनी सतही प्रो. पाहि समझ रहे हैं, क्योंकि ज्ञानादि विशेषगुण, जो कि आकस्मिक हैं,[14] किस प्रकार उनके द्वारा क्षणिक सङ्घातरूप आत्मा पर संस्कार पड़ सकेगा? प्रो. पाहि को भी आत्मा को प्रवाह रूप मानने पर उसे सङ्घातरूप व क्षणिक ही अनिवार्यतया मानना होगा। फिर प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना सम्भव न हो सकेगा। यही कारण है कि न्यायवैशेषिक परम्परा शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करती है।

(3)

इस प्रकार यह प्रायशः सुस्पष्ट सा दिखता है कि आचार्य बदरीनाथ शुक्ल द्वारा उपस्थापित नवदेहात्मवाद स्वयं में अनेक विरोधाभासों को उपस्थापित किये बिना न्यायवैशेषिकपरम्परा के मान्य सिद्धान्तों के साथ सङ्गति नहीं बना सकता है। इसी प्रकार प्रो. पाहि द्वारा प्रस्तुत पक्ष तो निश्चित तौर पर न्यायवैशेषिकपरम्परा के पद्धतिमूलक ज्ञानीमीमांसीय सिद्धान्तों की स्वाभाविक परिणति है तथा उसमें शरीरातिरिक्त आत्मा का स्वीकार करना अनिवार्य है। इसके बाद द्वितीय प्रश्न अवश्य यह उपस्थित होता है कि शरीरातिरिक्त आत्मा का स्वीकार आवश्यक होने पर भी उसकी नित्यता को स्वीकार करना आख़िर किस कारण अनिवार्य है? इस प्रश्न का उत्तर सहज तो नहीं है, परन्तु इसको इस रूप में देखा जा सकता है कि अगर हम कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता को स्वीकार कर लेते हैं, जो कि प्रमाणमीमांसीय पद्धतिमूलक सिद्धान्तों से सङ्गत है, तो निश्चय ही हमारे कृत कर्मों के भोग के लिए शरीरातिरिक्त नित्य आत्मा की सिद्धि अनिवार्य सी दिखती है।

दर्शन एवं धर्मविभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

सन्दर्भ सूची

1. शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। **कारिकावली** 48
2. शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचया-पचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली**, पृ. 210
3. एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्, तदानीमिष्टसाधनत्वानुभावकाभावात्। वही
4. तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। **न्यायसूत्रभाष्य** 3-1-3
5. वर्तमानशरीरेण कृतानामभुक्तफलानां कर्मणां धर्माधर्मव्यापारभाजनस्य तदधिष्ठातृमनसो नूतने तदर्जितादृष्टजनिते देहे प्रवेशेन तत्र तत्कर्मणां फलभोगसम्भवेन तेषां सार्थक्यात्। सर्वथा नूतने देहेऽपि पूर्वकृतकर्मणामेव फलोदयेनाकृताभ्यागमस्याभावाच्च। देहात्मवादे नायं नियमो यद् यो यत्कर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते, तस्यातिरिक्तात्मवादस्य चिरप्ररूढवासनामूलकतया प्रकृतवादेऽनभ्युपगमात्। तत्स्थाने यन्मनोऽधिष्ठितेन देहेन यत्कर्म क्रियते तत्फलं तन्मनोधिष्ठितेनैव देहेन भुज्यत इति नियमोपगमात्।
6. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। **न्यायसूत्र** 1-1-25
7. द्रष्टव्य **वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श**, पृ. 96, प्रकाशक दर्शन विभाग, राजस्थान विश्विविद्यालय, जयपुर 2001

8. द्रष्टव्य वही, पृ. 95
9. द्रष्टव्य वही, पृ. 68-69
10. द्रष्टव्य वही, पृ. 60
11. मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपाकरोति। तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं न समीहितम्। न्यायसूत्र 1-1-10 पर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. 211
12. द्रष्टव्य **वैशेषिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श**, पृ. 96, प्रकाशक दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 2001
13. बहुत बार तो मुख्यार्थक प्रयोग ही उपलब्ध नहीं होता है, केवल लक्षणा पर आधारित प्रयोग ही मिलते हैं, जिनको निरूढ लक्षणा के द्वारा जाना जाता है।
14. इस आकस्मिक का तात्पर्य चार्वाक परम्परा के आकस्मिक से न लिया जाए, बल्कि केवल किसी खास समय में भाविता से इसका तात्पर्य लिया जाए।

दयाजी का स्मरण

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

दयाकृष्ण जी अब हमारे बीच नहीं रहे। 5 अक्टूबर, 2007 को उनका देहावसान हो गया। परन्तु यह स्थूल सत्य है। यदि इस नाम को एक विचारपुञ्ज की संज्ञा के रूप में लें तो सही बात यह होगी कि वे अब अधिक विस्तृत रूप में व्याप्त हैं। कोई विचारपुञ्ज पूर्णतया सुसंगत हो, यह आवश्यक नहीं। वस्तुत: उसमें कुछ और जोड़ने या घटाने की सम्भावना रहती ही है। उसमें विरोधाभास होते हैं, विसंगतियाँ होती हैं और वे विचारों में उथल-पुथल मचाते हैं। विचार की प्रक्रिया को इनसे गति और दिशा मिलती है।

किसी सभा में, किसी जीवनी (पुस्तक) का विमोचन हो रहा था। दया जी को भी बोलना था। उन्होंने कहा, जीवन तो कर्म की कहानी होता है। वह कृत्यों का एक सिलसिला होता है। इसिलए किसी के जीवन के विषय में लिखना उसके कृत्यों का ब्यौरा देना है। यह मैं स्मृति से लिख रहा हूँ, इसलिए यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि दया जी ने ठीक इन्हीं शब्दों का, इसी क्रम में प्रयोग किया था। परन्तु सार रूप में उन्होंने कुछ ऐसा ही कहा था।

दया जी के विषय में कुछ कहने अथवा लिखने में उनके कृत्यों के विषय में ही लिखना उचित होगा। उनका व्यवहार मुदिता, सहिष्णुता, स्नेहशीलता, सहजता, मैत्री परन्तु साथ ही बहुधा स्पष्टवादिता से युक्त होता था। वनस्थली विद्यापीठ में मुझे लैक्चररशिप के इन्टरव्यू के लिए बुलाया गया था और इन्टरव्यू की समाप्ति पर मुझे दया जी से मिलने के लिए कहा गया था। यह दया जी से मेरी दूसरी भेंट थी। लगभग एक घण्टे की बातचीत के बाद वे मुझे अपने बंगले के गेट के बाहर तक छोड़ने आये। उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम्हें रास्ता मालूम है, कैसे जाओगे?" मेरी पत्नी मेरे साथ थीं और वे कोटा में रही थीं। उनकी तरफ संकेत करते हुए मैंने कहा कि ये राजस्थान की हैं, तो कोई कठिनाई नहीं होगी। दया जी ने कहा, "इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें यहाँ का रास्ता मालूम है!" इस घटना से एक ओर तो दया जी के व्यवहार में एक अनजान के प्रति आत्मीयता का भाव पता चलता है और दूसरी ओर उनके सोच की तार्किकता का पता चलता है। यदि यह कहा जाए कि ये तत्त्व उनके कृत्यों तथा व्यवहार के सहज अंग थे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

दर्शन विभाग के अध्यक्ष तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में उप कुलपति के रूप में उन्होंने सफल भूमिका निभाई। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए तथा उन पर अमल किया। राजस्थान में कॉलेजों से दर्शनशास्त्र के अध्यापकों को वे वर्ष में कम से कम एक बार एकत्र हो अपने अनुभव एवं विचारों के आदान-प्रदान के लिए आमन्त्रित करते थे। पाठ्यक्रम में अध्यापकों की सलाह लेना तथा नवीन प्रवृत्तियों को स्थान देना, वर्ष का एक आवश्यक कार्यक्रम था। विभाग की गतिविधि केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं थी। एक 'कॉफी ऑवर' की व्यवस्था की गई थी। इस अवसर पर अन्य विभागों से विभिन्न विषयों में निष्णात विद्वानों को आमन्त्रित किया जाता था। जी.सी. पाण्डे, राजकृष्ण, रमनमूर्ति, पी.एन. अग्रवाल, आर.के. कौल जैसे ख्यातिप्राप्त विचारक विभाग में एकत्र होते, विचर-विमर्श होता और ऐसा माहौल बनता जिसे विश्वविद्यालय जैसी संस्था का उपयुक्त वातावरण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नवोदित विद्वानों-शिक्षकों की कृतियों के विषय में चर्चा का आयोजन होता था। अन्य स्थानों से, विदेश से विद्वानों को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया जाता था। सेमिनार तो होते ही थे। कुछ विशिष्ट सेमिनारों का आयोजन भी किया गया था। डॉ. के.एल. शर्मा के सुझाव पर शोधार्थियों का एक सेमिनार गठित हुआ। शोधार्थियों को एक स्थान पर एकत्रित हो अपने शोध की प्रस्तुति का अवसर मिला। कुछ विचारकों के कुछ चुने हुए प्रकाशित लेखों पर विचार-विमर्श के हेतु भी एक सेमिनार गठित हुआ।

इसके अतिरिक्त, दया जी ने विभाग में एक विशेष अध्ययन-गोष्ठी का आरम्भ किया। हममें से अनेक को यह कमी अखरती थी कि अपने शैक्षणिक काल में हम मूल कृतियों का (भारतीय विचार-परम्परा में) अध्ययन नहीं कर पाये और उन पर दूसरे और तीसरे स्तर की टीकाओं अथवा उनके विचारों तक ही सीमित रहे। इसलिए यह निश्चय हुआ कि किसी मूल ग्रन्थ को लिया जाय। गोष्ठी के सदस्य उस ग्रन्थ का अध्ययन कर उसे सिलसिले से प्रस्तुत करें तथा उन की प्रस्तुति पर विमर्श हो। मूल ग्रन्थ यूं तो संस्कृत में थे, परन्तु जिनका अनुवाद उपलब्ध था उन्हें ही लिया गया। इस कार्यक्रम में भरत का **नाट्यशास्त्र**, कौटिल्य का **अर्थशास्त्र**, **महाभारत** का 'शान्तिपर्व' जैसी कृतियों का अध्ययन तथा उन पर विमर्श हुआ। इन गोष्ठियों में दया जी के अतिरिक्त विभाग के अन्य सदस्य, जिनमें ए.एम. घोष, एन.के. शर्मा, पी.के. श्रीवास्तव, के.एल. शर्मा, चांदमल शर्मा, रामचन्द्र त्रिवेदी, रमेशचन्द तथा लेखक भाग लेते थे। कभी-कभी अन्य विभागों के सदस्य भी भाग लेते थे। यह कार्यक्रम, जो एक शैक्षणिक कमी के निवारण के लिए आरम्भ हुआ था, एक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक दृष्टि में परिवर्तित हो गया। जो कृतियाँ इस गोष्ठी में अध्ययन के लिए चुनी गई थीं वे उस

वाङ्मय का एक छोटा सा भाग थीं जो भारतीय ज्ञान-परम्परा से जुड़ा था। इस प्रकार यह अध्ययन भारतीय ज्ञान-परम्परा को समझने तथा उसके निर्वचन का आकस्मिक प्रयास बन गया, परन्तु परम्परा की समझ का यह अभियान अपूर्ण तथा अपर्याप्त था। इस अध्ययन के एक परिणाम के रूप में **इण्डियाज़ इन्टेलेक्च्यूएल ट्रडिशन्स** शीर्षक पुस्तक 1987 में प्रकाशित हुई, जिसका सम्पादन दया जी ने किया। इसका संवर्धित दूसरा संस्करण 2003 में प्रकाशित हुआ। यह दूसरा संस्करण इण्डियन काउन्सिल ऑव फिलॉसोफिकल रिसर्च संस्थान द्वारा प्रकाशित हुआ।

इस दूसरे संस्करण की भूमिका में दया जी ने लिखा, "ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय बौद्धिक प्रयासों की संप्रत्ययात्मक संरचना को समझना तथा रूपायित करना एक बात है, उसे आत्मसात् करना और आधुनिक युग में उसी घटना को समझने के लिए उन (प्रयासों) का उपयोग करना दूसरी बात है।" (पृ. xiii) विभाग में एक समय पर यह आयोजन विराम पा गया। परन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, इसने एक भिन्न रूप में बड़ी गति प्राप्त की। दया जी का कहना था कि यदि हम परम्परा को इस रूप में आत्मसात् नहीं कर पाते कि उसे आधुनिक आवश्यकताओं के संदर्भ में पुनः रचें तब परम्परा को समझने का प्रयत्न बौद्धिक विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह पायेगा। उससे यह संकेत मिलेगा कि विचारकों को इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि उनके चारों ओर क्या हो रहा है। (पृ. xiii-xiv) पुस्तक के अन्त में उपसंहार के रूप में लिखते हुए दया जी ने भाषा को लेकर विभिन्न भारतीय दृष्टियों तथा विचारधाराओं को संक्षेप में परन्तु सुन्दर ढंग से उकेरा है।

विभाग में, अथवा अन्यथा भी, यदि कोई व्यक्ति कोई उपयोगी अथवा रचनात्मक सुझाव रखता तो उसे दया जी उत्साहित तो करते ही, आवश्यकता होती तो उसकी पूर्ति के निमित्त ज़रूरी कदम भी उठाते। एक बार बातों ही बातों में डॉ. के.एल. शर्मा ने यह सुझाव रखा कि जो वर्तमान विचारक अपने देश में विचार-जगत् में विशेष स्थान रखते हैं उनके विचारों पर सेमिनार या गोष्ठियाँ की जाएँ। यह विचार दया जी को पसंद आया। परिणामस्वरूप कालिदास भट्टाचार्य, एन.वी. बनर्जी तथा जे.एन. मोहन्ती के विचारों पर विभाग में सेमिनार आयोजित हुए। इनमें से सभी में प्रस्तुत निबन्ध यथावत् प्रकाशित हुए।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् में दया जी ने ऐसी सुविधा को भी संस्थागत किया जो शोधार्थियों की सहायता के निमित्त थी। यदि किसी को शोध के संदर्भ में किसी सूचना अथवा सामग्री की आवश्यकता पड़ती जो उसे सुलभ नहीं होती तो भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के सौजन्य से वह उपलब्ध करायी जा सकती

थी। मुझे नहीं पता कि इस सुविधा का किसी ने लाभ उठाया या नहीं, और अब उसकी क्या स्थिति है, परन्तु महत्त्व की बात यह है कि दया जी की सोच में किस प्रकार की चिन्ताएँ रहती थीं, उसका पता हमें उनकी इस पहल से चलता है।

वैचारिक परम्पराओं की समीक्षा गम्भीर विचारकों का व्यसन रहा है। भारतीय वैचारिक परम्परा के सम्बन्ध में दया जी की रुचि अनेक ऐसी प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त हुई जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है तथा जिसका मूल्यांकन धीरे-धीरे ही हो पायेगा। इस संदर्भ में जो अत्यन्त महत्त्व का कार्य दया जी ने किया वह देश में वर्तमान मनीषा को उत्प्रेरित करना और उसके निमित्त से संस्कृत तथा दर्शन के विद्वानों तथा विभिन्न धर्मों के विद्वानों को समय-समय पर तथा स्थान-स्थान पर एकत्र करना, उनके बीच संवाद कराना, भारतीय मनीषा के सम्मुख पश्चिम के चिन्तन को प्रस्तुत करना, उसके सम्बन्ध में भारतीय मनीषी प्रतिक्रिया कर सकें इसके निमित्त पश्चिम के दार्शनिकों की चिन्ताओं तथा समस्याओं को संस्कृत में ही उनके समक्ष प्रस्तुत करवाना, ये सब ज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासकि प्रयोग थे। और यह किसी रूप में 'जयपुर एक्सपेरिमेन्ट' का ही विस्तार था। इस प्रयास का एक परिणाम **संवाद : एक डॉयलॉग बिटवीन टू फिलॉसोफिकल ट्रेडिशन्स** के रूप में 1991 में प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन दयाकृष्ण, एम.पी. रेगे, आर.सी. द्विवेदी तथा मुकुन्द लाठ के द्वारा हुआ। इस संदर्भ में कुछ अन्य प्रकाशनों की ओर भी संकेत किया जा सकता है, यथा **भक्ति : ए कन्टेम्परेरी डिस्कशन, फिलोसोफिकल एक्स्प्लोरेशन्स इन द इण्डियन भक्ति ट्रेडीशन** तथा **इण्डियन फिलॉसोफि : ए काउन्टर पर्सपेक्टिव**। पहली पुस्तक का सम्पादन दयाकृष्ण तथा मुकुन्द लाठ तथा फ्रान्सीन कृष्ण ने किया और वह भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली से 2000 में प्रकाशित हुई तथा दूसरी पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सटी प्रेस से 1991 में प्रकाशित हुई, जिसे दया जी ने लिखा था। इस पुस्तक के अनेक संस्करण निकल चुके हैं।

दया जी ने दर्शनशास्त्र विभाग में जो अतिरिक्त गतिविधियाँ संचालित कीं, उनके कारण विभाग को यू.जी.सी. से स्पेशल असिस्टेंस प्रोग्राम आरम्भ करने की स्वीकृति प्राप्त हुई। यह संतोष का विषय है कि अब यह सहायता उन्नत रूप सेन्टर फॉर एडवांस्ड स्टडीज के रूप में परिवर्तित हो गई है।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के जर्नल के पाठक इस तथ्य से अवगत होंगे कि दसवें खण्ड के बाद से क्रमशः दया जी ने कुछ ऐसे स्तम्भ आरम्भ किये जो विचारों को उत्प्रेरित करें। इन स्तम्भों में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ, अनेक नये प्रश्न और समस्याएँ तथा शोध के लिए सम्भव बिन्दुओं पर सामग्री रहती थी। राजस्थान

विश्वविद्यालय का दर्शन विभग इस सामग्री का संकलन कर उसे एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने जा रहा है। यह तो सर्वविदित ही है कि दया जी अन्त तक इस जर्नल का अवैतनिक सम्पादन करते रहे।

दया जी न केवल अन्य विचारकों को प्रश्न उठाने तथा उनका समाधान तलाश करने की प्रेरणा देते रहे, उनका स्वयं का चिन्तन भी अनेक नवीन प्रश्नों तथा जिज्ञासाओं में दिशा लेता रहा तथा स्वरूप ग्रहण करता रहा। विचार का कोई आयाम हो, कोई क्षेत्र हो, उसका सम्बन्ध चाहे पश्चिम के चिन्तन से हो अथवा भारतीय चिन्तन से हो, दया जी के समक्ष कोई न कोई प्रश्न चुनौती के रूप में उपस्थित रहता था। उनके दर्शन पर जो पुस्तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् से 1996 में प्रकाशित हुई है **द फिलोसोफि ऑव दयाकृष्ण**, सम्पादक भुवन चंदेल तथा के.एल. शर्मा, उसमें अन्त में जो उनकी कृतियों की सूची दी हुई है उससे दया जी के चिन्तन की व्यापकता तथा उनकी बहुआयामी रुचि का पता चलता है। इन कृतियों में दर्शन के अतिरिक्त समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, राजनीतिशास्त्र, शिक्षा आदि अनेक क्षेत्र सम्मिलित हैं।

वस्तुतः दार्शनिक कर्म को दया जी ने बुद्धि की बुद्धि के द्वारा आत्म-समीक्षा के रूप में देखा। उसका अपने चिन्तन में उसी तरह निर्वाह किया। उनका मानना था कि दार्शनिक समस्याएँ सम्प्रत्ययात्मक भ्रान्तियों से उत्पन्न होती हैं, उनके समाधान के लिए संप्रत्ययात्मक विश्लेषण की आवश्यकता होती है। अपनी प्रथम पुस्तक **द नेचर ऑव फिलॉसोफी** में वे लिखते हैं कि "संप्रत्यायात्मक विश्लेषण ही दार्शनिक की तात्त्विक प्रकृति रहा है, अतीत में भी तथा वर्तमान में भी।"[1] (पृ. 299) इसके आगे वे और भी रोचक बात कहते हैं कि दर्शन का जीवन अपनी ही भ्रान्तियों के स्पष्टीकरण में निहित होता है। जब समस्या के समाधान से मुक्ति मिल जाती है तब दर्शन की इतिश्री हो जाती है। परन्तु वस्तुतः दर्शन की समाप्ति नहीं होती। दार्शनिक की प्रकृति उसे निरन्तर प्रश्नों में उलझाये रखती है। फिर किसी भी दार्शनिक के द्वारा प्रस्तुत समाधान अन्तिम तथा निर्विवाद नहीं होता। इसके अतिरिक्त, समाधान मिलने पर नये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं और चिन्तन का सिलसिला चलता रहता है। यह एक रोचक तथ्य है तथा उन सभी के ध्यान में आया होगा जो दया जी के सम्पर्क में आये होंगे कि

---

1. यह पुस्तक 1951 में लिख ली गई थी। बाद में डाक्टरेट की उपाधि के लिए उसे दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। राइल तथा एच.एच. प्राइस इस थीसिस के परीक्षक थे। उन्होंने इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। अन्ततः यह 1956 में प्रकाशित हुई। दर्शन के स्वरूप के विषय में जो स्थापना दया जी ने इस पुस्तक में प्रस्तुत की थी अन्त तक उसमें किसी बदलाव की आवश्यकता उन्हें नहीं लगी। इस पुस्तक का प्रकाशन प्राची प्रकाशन, कलकत्ता से हुआ।

दया जी से मिलने का अर्थ होता था नये तथा अप्रत्याशित प्रश्नों का सामना करना। यह एक अलग बात है कि सुनने वाले को वह प्रश्न या समस्या प्रश्न या समस्या जैसा न लगा हो, अथवा उसका महत्त्व उसे स्पष्ट न हुआ हो। दया जी ने स्वयं लिखा है कि यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति को जो समस्या दीखती है वह दूसरे को भी उसी प्रकार दिखे। कोई समस्या किसी व्यक्ति की चेतना से सम्बद्ध होती है। (देखें **द नेचर ऑव फिलॉसोफी**, पृ. 217) दया जी ऐसे दार्शनिक प्रश्नों में उलझे रहते थे और उनके समाधान की तलाश ही उनके जीवन में रस का कारण थी। जो भी उनसे मिलता उसकी चेतना कम से कम कुछ समय के लिए अवश्य उद्वेलित होती थी।

दार्शनिकों का, चाहे वे भारत के हों अथवा किसी अन्य भू-भाग के निवासी हों, दीर्घकाल से यह विश्वास रहा है कि दार्शनिक चिन्तन तत्त्व अथवा यथार्थ के उद्घाटन में व्यस्त रहता है। मूलत: दार्शनिकों के प्रश्न तत्त्वोन्मुखी ही होते थे। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने तत्त्व के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयास अपने-अपने ढंग से किया। परन्तु किन्हीं दो मौलिक दार्शनिकों में तत्त्व के स्वरूप को लेकर मतैक्य नहीं बन पाया। जैसा इमैन्यूएल काण्ट ने अपनी प्रमुख पुस्तक **क्रिटिक् ऑव प्योर रीज़न** की भूमिका में कहा, तत्त्वमीमांसा सदैव कलह तथा संघर्ष का कुरुक्षेत्र रही है। इस स्थिति पर विचार करते हुए बीसवीं शती के आरम्भ में कुछ विचारकों को इस बात पर शंका हुई कि जिन समस्याओं में दार्शनिक उलझे रहे हैं क्या वे वास्तव में समस्याएँ हैं भी? तार्किक, भाषाई एवं संप्रत्ययात्मक विश्लेषण के फलस्वरूप अनेक विचारकों को लगा कि परम्परागत दर्शन में व्यस्त दार्शनिक प्रश्न नहीं प्रश्नाभास के मोहजाल में ग्रस्त थे। रसेल ने दार्शनिक प्रयास को अंधेरी रात में एक ऐसी काली बिल्ली की तलाश बताया जो वहाँ थी ही नहीं।

लगता है, दया जी को भी कुछ ऐसी ही अनुभूति हुई होगी। **द नेचर ऑव फिलॉसोफी** में उन्होंने उन निहित मान्यताओं का उल्लेख किया, जो उनके अनुसार, पाश्चात्य चिन्तन की प्रेरक रही थीं। ये मान्यताएँ इस प्रकार हैं—अन्तिम यथार्थ इस प्रकार का होता है कि उसे शुद्ध विचार से उद्घाटित किया जा सकता है; ज्ञान का विषय तथा उसकी पद्धति अन्तिम तथा पूर्ण रूप रखते हैं; बौद्धिक होना और मूल्यपरक होना एक ही बात है। अन्तत: यह कि दर्शन हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करता है जो अन्ततोगत्वा पूर्णतया वैध होता है। दया जी का मत है कि इनमें पहली तीन मान्यताएँ, एक ही मान्यता के तीन पक्ष हैं और चौथी मान्यता भी तीन के परिणामस्वरूप निष्कर्ष का रूप रखती है। दया जी मानते हैं कि ये मान्यताएं निराधार सिद्ध हुई हैं। इसलिए दर्शन के प्रति दृष्टि बदलनी चाहिए। वे लिखते हैं, "अब समय है कि दार्शनिक इस सामान्य धारणा को छोड़ें कि वे विलक्षण अर्थ में तत्त्व से घनिष्ठता

रखते हैं और निरपेक्ष परम अथवा सर्वशक्तिमान् ईश्वर से मेलजोल रखते हैं। दार्शनिक को शमन, पुरोहित अथवा पैगम्बर के दिखावटी डैने नहीं लगाने चाहिएँ।" (पृष्ठ 233) दार्शनिक न तो जगत् के प्रति कोई आदेश दे सकता है और न ही वैज्ञानिक की तरह जगत् का वर्णन कर सकता है। परन्तु इस नकारात्मक कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि दया जी दार्शनिक परम्परा अथवा अर्वाचीन दार्शनिक कर्म को पूरी तरह नकारते हैं। वे यह भी ठीक नहीं समझते कि दर्शन के स्वरूप को ग्रहण करने के लिए उसके प्रचलित शाब्दिक प्रयोगों को निश्चित किया जाए। ध्यान देने की बात यह है कि इस बात पर विचार किया जाए कि दार्शनिक क्या करते रहे हैं और क्या करते हैं। यह बात महत्त्व की नहीं है कि वे स्वयं अपने चिन्तन के विषय में क्या सोचते हैं अथवा अपने चिन्तन का विषय या उद्देश्य क्या मानते हैं।

भले ही यह प्रश्न ग़लत हो कि 'वास्तविकता अथवा यथार्थ क्या है', परन्तु यह है तो एक दार्शनिक प्रश्न ही। जैसे प्रश्न वैज्ञानिक उठाते हैं, अथवा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में उठाये जाते हैं, यह वैसा प्रश्न नहीं है। दार्शनिक यथार्थ के वर्णन तथा व्याख्या में व्यस्त रहे हैं। परन्तु यह सूझ बाद में विकसित हुई कि दार्शनिकों का कार्य 'जो है' उसका यथावत् वर्णन करना, अथवा उसकी व्याख्या करना न होकर कुछ और ही था। दार्शनिक जो करते आये हैं, अथवा करना चाहते थे, वह तो वैज्ञानिकों का कार्य था। प्रश्नों की छान-बीन को लेकर दया जी विण्डिलबैण्ड की **हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफी** का संदर्भ रखते हैं। (पृष्ठ 213) वहाँ यह बताया गया है कि दार्शनिक विचार सप्रत्ययों से सम्बन्धित रहा है तथा उन समस्याओं के विषय में होता है जो इन प्रत्ययों से सम्बन्धित होती हैं। परन्तु होता यह रहा है कि संप्रत्ययों की बात इस विचारणा में दब गई कि दार्शनिक का लक्ष्य 'यथार्थ क्या है' यह निर्धारित करना है।

दार्शनिक जो विश्व-दृष्टि रखते रहे, तथा विश्व के सम्बन्ध में जो संरचनाएँ विकसति करते रहे, वे उनकी वैयक्तिक रुचियों तथा पूर्वाग्रहों से प्रभावित थीं। फलत: दो दार्शनिकों के विचारों में विरोध स्वाभाविक परिणति थी। दया जी का मानना था कि वे न केवल चिन्तन करते हैं अपितु वे इस पर भी सोचते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। (पृष्ठ 211) आत्म-चेतना का यह घटक उनका ध्यान यथार्थ अथवा सत् के उद्घाटन की ओर ले जाता रहा और यह बात प्रमुख नहीं रही कि वास्तव में उनके सोच का विषय संप्रत्यय और संप्रत्ययों के परस्पर सम्बन्ध थे। वस्तुत: दार्शनिक संप्रत्ययों तथा उनके सम्बन्धों में ही व्यस्त रहते थे, और यह बात, जैसा दया जी का सोच था, गौण थी कि वे अपने चिन्तन का विषय यथार्थ का उद्घाटन मानते थे।

दया जी का ख्याल था कि दर्शन प्रमुख रूप में संज्ञानात्मक (काग्नीटिव) होता है, वह संवेगों तथा कर्म से सम्बन्धित नहीं होता। (पृष्ठ 215) संज्ञानात्मक संधान अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु दार्शनिक संधान का अपना वैशिष्ट्य होता है। संज्ञानात्मक संधान में हम सत्य एवं असत्य स्वीकृति की दिशा निर्धारित करते हैं। सत्यासत्य आनुभविक सम्भावना से सम्बन्धित होते हैं। इस सन्दर्भ को ध्यान में रखें तथा इस प्रश्न पर विचार करें कि सत् अथवा यथार्थ क्या है, तो दार्शनिकों के अलग-अलग उत्तर मिलते हैं। कोई कहते हैं कि सत् आध्यात्मिक है, तो कोई कहते हैं कि वह भौतिक है। ये उत्तर संतोषजनक नहीं हैं तथा एकांगी हैं। वे अनुभव के संदर्भ के साथ ठीक नहीं बैठते। उनमें से किसी को भी पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सत् अथवा यथार्थ का प्रत्यय तथा उसका विश्लेषण, सम्बन्धित प्रश्नों के प्रश्नाभास होने की ओर संकेत करते हैं। वस्तुतः दार्शनिक का चिन्तन इस बात से सम्बन्धित नहीं है कि कोई प्रतिज्ञप्ति यथार्थ के विषय में सत्य है अथवा नहीं, वह तो संप्रत्ययों तथा युक्तियों से ही सम्बन्धित होता है। वह वस्तुस्थिति से सम्बन्धित नहीं होता। यदि कहें कि 'आत्मा अमर है' या 'ईश्वर का अस्तित्व है' तो प्रथम तो यह लगता है मानो ये कथन ऐसे ही हैं जैसे 'यह मेज़ है' अथवा 'घास हरी है'। परन्तु ऐसा सोचना ग़लत है, क्योंकि पहले प्रकार के कथन ऐन्द्रिक तथ्यों से सम्बन्धित नहीं होते, न ही, हम उनका सम्बन्ध गणित अथवा तर्क के आकारगत संदर्भ से जोड़ सकते हैं। इनका सम्बन्ध सम्प्रत्ययों के क्षेत्र से अधिक लगता है, वस्तुओं के क्षेत्र से नहीं। ऐसा लगता है कि कोई मध्य क्षेत्र है जो एक ओर गणित अथवा तर्क के क्षेत्र से भिन्न है तथा दूसरी ओर ऐन्द्रिक एवं पराज्ञान के क्षेत्रों से भी अलग है। इन दूसरे क्षेत्रों में समस्याओं के समाधान मिलते हैं तथा समस्याओं का स्वरूप ही समाधान की दिशा का उद्घाटन करता है, किन्तु यह बात बीच के क्षेत्र की समस्याओं पर प्रकाश नहीं डालती। लगता है इस क्षेत्र में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं वे असमाधेय हैं। अन्य शब्दों में, समस्याएँ ही मध्य क्षेत्र में विषय का रूप रखती हैं। (पृष्ठ 217) दया जी लिखते हैं कि समस्या मूलतः किसी की चेतना अथवा आत्म-चेतना से सम्पृक्त होती है। स्वयं अपने में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। समस्या का समस्यापन तब उत्पन्न होता है जब किसी एक ही तथ्य के दो पक्ष भिन्न तथा विरोधी समस्याओं की ओर ले जाते हैं, या फिर भिन्न तथ्यों के सम्बन्ध में विरोधी कल्पनाएँ विचारार्थ उपस्थित होती हैं, या फिर जब कोई तथ्य उपलब्ध ज्ञान-संरचना में नहीं बैठ पाता। वस्तुतः मेल नहीं खा पाना अपने में कोई समस्या नहीं होती। वह तब समस्या का रूप ग्रहण करती है जब असंगति के विषय में यह बोध भी हो कि असंगति नहीं होनी चाहिए।

अस्तित्व की समस्या स्वयं समस्या है। तत्त्वत: उसका कोई समाधान नहीं हो सकता, परन्तु तार्किक भाववादियों (लॉकिज पाज़िटिविस्ट्स) के साथ यह मानना ग़लत होगा कि वह समस्या न होकर समस्याभास है। दया जी उसे समस्या मानते हैं तथा उसे गणित अथवा विज्ञान की समस्याओं से भिन्न बताते हैं। इस प्रसंग में हाइडेग्गर, कार्नप तथा बर्गसां के विचारों के संदर्भों पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि हाइडेग्गर के लिए शून्य की समस्या गहरे महत्त्व की थी जबकि कार्नप तथा बर्गसां की दृष्टि में वह एक गहरी भूल का परिणाम थी। ये विचारक अस्तित्व की समस्या से इसलिए जूझते हैं क्योंकि वैसी समस्या थी। यदि वह कोई समस्या नहीं होती तो ये दार्शनिक उसे लेकर विचार-विमर्श क्यों करते?

प्रश्न अथवा समस्या को लेकर जो बातें अभी तक आयी हैं, वे हैं—समस्या किसी चेतना के लिए होती है, जो एक व्यक्ति के लिए समस्या है वह दूसरे के लिए भी समस्या हो, यह आवश्यक नहीं है; समस्या के मूल में किसी न किसी प्रकार का विरोध निहित होता है; दार्शनिक प्रश्न को प्रश्नाभास कहना ग़लत है, क्योंकि यदि यह सही होता तो दार्शनिक उस पर विचार नहीं करते।

अब यह तो सम्भव है कि जो एक व्यक्ति के लिए समस्या है वह दूसरे के लिए समस्या न हो। इसके तथ्यपरक तथा मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। इनका सम्बन्ध सम्बन्धित व्यक्तियों से हो सकता है। यह भी सही है कि दर्शन की समस्याएँ ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की समस्याओं से भिन्न प्रकार की होती हैं। इन तथ्यों को स्वीकार करने पर भी यह कहा जा सकता है कि आज जिसे मैं समस्या मान बैठा हूँ वह बाद में मेरे लिए समस्या न रह जाए। परम्परागत दार्शनिक प्रश्नों पर विचार-विश्लेषण के फलस्वरूप जब बाद के विचारकों ने उन प्रश्नों को प्रश्नाभास कहा तो वह एक निराधार और निरर्थक बात नहीं थी। दया जी ने उन प्रश्नों को दूसरी तरह देखा। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे प्रश्न तो हैं, और किसी पक्ष से सार्थक भी हैं, परन्तु वे तत्त्वत: असमाधेय हैं। वे निरन्तर प्रत्ययों के क्षेत्र में प्रवेश के लिए बाध्य करते हैं।

दया जी के अनुसार प्लेटो तथा पहले के दार्शनिक जो गति एवं बहुत्व आदि के विषय में विचार कर रहे थे, वे गति तथा बहुत्व के सम्प्रत्ययों में उलझे हुए थे। (पृष्ठ 227) इन सम्प्रत्ययों के विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण के समय अनेक दूसरे प्रश्न उपस्थित हुए जिनमें से अनेक का कोई समाधान नहीं मिला। सत् और सम्भूति (होना); द्रव्य तथा कारणता, देश तथा काल, अर्थ, इतिहास तथा प्रगति, तथा मूल्य जैसे अनेक ऐसे सम्प्रत्यय हैं जिनके विश्लेषण में दार्शनिक व्यस्त रहे हैं, परन्तु वे संतोषजनक समाधान देने में असमर्थ रहे हैं।

पश्चिम हो या पूर्व, प्राचीन युग हो अथवा अर्वाचीन, दार्शनिकों की रुचि सदैव ऐसी समस्याओं तथा प्रश्नों में रही है जो गैर-दार्शनिकों को हल्के और व्यर्थ नज़र आते हैं। जहाँ तक दार्शनिकों की बात है, वे अपने कर्म को गम्भीरता से लेते हैं तथा अपने कार्य की महत्ता की रक्षा के निमित्त वे यह मानते हैं कि वे वास्तव में यथार्थ अथवा सत् के ज्ञान को प्राप्त करने के प्रयास में व्यस्त हैं। प्लेटो के लिए प्रत्ययों पर मनन, स्पीनोज़ा के लिए ईश्वर का बौद्धिक प्रेम; काण्ट तथा शॉपेनहावर के लिए नीतिशास्त्र, सांख्य के लिए कैवल्य, तथा शंकर के लिए परम अद्वैत—इन दार्शनिकों के लिए यथार्थ के स्वरूप तथा सम्प्रत्यय से निस्सरित होते हैं। (पृष्ठ 228)

दार्शनिक चेतना तथा साधारण व्यक्ति की चेतना में भेद करते हुए दयाजी कहते हैं, विभिन्न दार्शनिक समस्याओं से सम्बन्धित विचार मूल्य तथा प्रामाणिकता का आश्रय बनें ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं होती। बिना दार्शनिकों के विचारों को जाने हुए भी साधारण लोग नैतिकता का पालन करते हैं, तर्क करते हैं, यहाँ तक कि धार्मिक भी होते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक विषयों में तथा चिन्तन में जो रुचि प्राप्त होती है वह व्यक्ति की मनोवृत्ति पर आश्रित होती है।

तत्त्वमीमांसा एक काल्पनिक संरचना होती है। कला-क्षेत्र की काल्पनिक संरचनाओं से तुलना करने पर वह अधिक अमूर्त तथा समग्रात्मक होती है। यूँ तो वह युक्ति द्वारा परिचालित होती है परन्तु वस्तुतः वह सम्प्रत्ययों के निर्माण में तथा उनके विश्लेषण में व्यस्त होती है। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र हो, वहाँ कुछ ऐसे प्रश्न और समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका आधार उस क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले सम्प्रत्यय होते हैं। इनके विश्लेषण की आवश्यकता होती है, इनके परस्पर सम्बन्धों को निश्चित करना होता है, और इस प्रक्रिया में कुछ और सम्प्रत्ययों की आवश्यकता होती है। क्षेत्र विशेष में कार्यरत व्यक्ति के लिए इस प्रकार का दार्शनिक व्यसन विशेष महत्त्व नहीं रखता। उसके वास्तविक क्रिया-कलाप के संदर्भ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यद्यपि दार्शनिकेतर ज्ञान तथ कार्य-क्षेत्रों के व्यावहारिक पक्ष के साथ दार्शनिक चिन्तन का कोई सम्बन्ध नहीं होता, जैसा दया जी ने माना है, परन्तु एक दूसरी दृष्टि से वे उससे नितान्त असम्बद्ध भी नहीं लगते। जैसा स्वयं दया जी मानते हैं तथा अन्य दार्शनिकों में भी दृष्टिगत होता है, दार्शनिक के लिए कोई क्षेत्र वर्जित नहीं होता। वह ज्ञान, कर्म के किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले आधारभूत सम्प्रत्ययों को अपने चिन्तन का विषय बना सकता है, और बनाता है।

यह सही है कि दर्शनेतर क्षेत्रों में रत व्यक्ति, दार्शनिक क्या करते हैं और कहते हैं, इसके प्रति उदासीन होता है, परन्तु उसका अपना कर्म विचार-शून्य नहीं होता। यह

भी सही है कि वह विशिष्ट समस्याओं तथा लक्ष्यों में व्यस्त होता है, परन्तु इनके समाधान में वह लोक-साधारण सिद्धान्तों का उपयोग करता है। कभी-कभी उसका अपना अनुभव तथा कार्य उपलब्ध सिद्धान्तों में परिमार्जन की दिशा में ले जाता है तथा कभी-कभी तो वह नवीन सिद्धान्तों की उत्पत्ति में भी योगदान करता है। यह प्रक्रिया सम्भव नहीं होगी यदि वह विशिष्ट से सामान्य की ओर नहीं बढ़ेगा, जो सामने है उसकी गहराई में नहीं जाएगा। समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में दार्शनकि प्रणालियों का प्रभाव देखा जा सकता है। जिन पद्धतियों तथा सम्प्रत्ययों का दार्शनिक आविष्कार करते हैं वे कालान्तर में अन्य क्षेत्रों में प्रविष्ट होती दिखाई पड़ते हैं।

दार्शनिक चिन्तन के विषय में लिखते हुए दया जी प्रश्न उठाते हैं, "आख़िर यह चिन्तन क्या है जो हर चीज़ के बार में हर स्तर पर ही प्रश्न नहीं उठाता है बल्कि अपने बारे में भी वैसा ही करने के लिए अपने को मजबूर पाता है। क्या आत्म-चेतना का स्वरूप ही यह नहीं है कि वह अपने बारे में सदैव अनेकानेक प्रश्नों से उलझी रहे और उनको सुलझाने की कोशिश में हमेशा लगी रहे?[1]

इस आत्म-चिन्तन को दया जी उपनिषदों के आत्म-चिन्तन से अलग बताते हैं। यद्यपि बहुत से विचारक आत्म-चिन्तन को आत्मा अथवा उसके व्यक्ति स्वरूप से जोड़ कर देखते हैं और इसकी भी भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दर्शनों में एक लम्बी परम्परा है। फिर भी दयाजी जिस आत्म-चिन्तन की बात करते हैं उसे वे 'शुद्ध चिन्तन' की संज्ञा देते हैं।[2] वे कहते हैं कि, "यदि इस बात पर ध्यान दिया जाए कि "दर्शन की उलझन करीब-करीब हमेशा वैसी ही रहती है, चाहे वह सोचना कहीं से भी शुरू करे और चाहे उसके चिन्तन का 'विषय' कुछ भी हो। बात इतिहास की हो या गणित की, आत्मा की या जगत् की, धर्म की या कला की, मतलब बात किसी की भी हो, दार्शनिक समस्या वही रूप लेती नजर आती है और ऐसा लगता है जैसा दर्शन का विषय इन क्षेत्रों से विशेष रूप में सम्बन्धित न होकर किसी अन्य बात से है। ये तो उसके 'आलम्बन' मात्र हैं जिनका सहारा लेकर वह वास्तव में 'अपने' क्षेत्र में प्रवेश करता है और वहाँ इनसे मुक्त होकर अपने सहज रूप में अवस्थित होने की चेष्टा करता है।"[3] अब जैसा पहले उल्लेख हुआ है, दया जी ने दर्शन के अतिरिक्त अनेक अन्य क्षेत्रों में भी लिखा है। उन्होंने अपने समय होने वाली राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर व्याख्यान भी दिये और लिखा भी। अमेरिका के इराक में आक्रमण करने

---

1. **भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएं,** 2006, जयपुर, पृ. 459
2. वही, पृ. 459
3. वही, पृ. 460

पर उन्होंने तीव्र आलोचनात्मक प्रतिक्रिया की। परन्तु यह सब करते हुए भी उन्होंने स्वयं को दर्शन के शुद्ध विचार-जगत् में ही व्यस्त रखा। बुद्धि का यह जगत् लौकिक या पारलौकिक विषयों से सम्बन्धित नहीं होता। इन सबसे "अलग होकर, निस्संग होकर, शुद्ध अपने स्वरूप में अवस्थित होकर 'बुद्धि' अपने बारे में विचार करती है और इस विचार की प्रक्रिया में जो समस्या उठती है उसका उठाने में और सुलझाने में सहज आनन्द लेती है। जितना दार्शनिक उलझता है उतना ही उसे मज़ा आता है, क्योंकि वह उलझना उसे सुलझाने की ओर प्रवृत्त करता है, और उस यह पता है कि यह प्रक्रिया अन्य जीवन्त प्रक्रियाओं की तरह अनन्त है, क्योंकि यहाँ प्रक्रिया में ही जीवन है।" (वही) दया जी के ये शब्द उनके स्वयं के दार्शनिक चिन्तन तथा उनकी दार्शनिक रुचि के विषय में भी ठीक बैठते हैं।

10/558, कावेरी पथ,

मानसरोवर, जयपुर 302020

विचार-विमर्श - 1

साधारणीकरण की अवधारणा पर आगे कुछ और विचार

हमारी काव्यशास्त्रीय परंपरा में साधारणीकरण की अवधारणा की बहुत चर्चा है और यह अवधारणा अभी तक निर्विवाद रूप से स्वीकृत चली आ रही है। किन्तु हमने एक लेख में[1] इस अवधारणा की अयुक्तता दिखाने का प्रयत्न किया है और उस वस्तुस्थिति की दूसरी व्याख्या दी है। किन्तु मुकुंदजी ने **उन्मीलन** के इस अंक में प्रकाशित अपने लेख 'संगीत का भावलोक' में हमारी व्याख्या को स्वीकार करते हुए भी साधारणीकरण की मूल अवधारणा का उल्लेख स्वीकारपूर्वक किया है। उसे देखकर हमें इस अवधारणा पर कुछ और स्पष्टीकरण देना आवश्यक लग रहा है।

साधारणीकरण की अभिनवगुप्त की व्याख्या है कि 'काव्य में वर्णित भाव उस रूप में किसी का नहीं होता–न लेखक का, न अभिनेता का, न प्रेक्षक का। वह साधारणीकृत होता है जिसके सब द्रष्टा होते हैं। ('संगीत का भावलोक' **उन्मीलन** पृ. 50-53 से) इसमें कितना बड़ा दृष्टि-दोष है, पहले तो यह देखें। निश्चय ही अभिनेय भाव लेखक, अभिनेता और दर्शक का नहीं होता, किन्तु वह कोई अधर में लटकता भाव भी नहीं होता, वह उस पात्र का होता है अभिनेता जिसे प्रस्तुत करता, या कहें अपने में धारण करता है, और उसी पात्र के चरित्र के वैशिष्ट्य के साथ वह भाव ऐसा होता है कि उसके साथ लेखक, अभिनेता और दर्शक तादात्म्य साधते हैं। राम का अभिनय करने वाले अभिनेता को अभिनय में राम होना होता है–भाव, विचार और इनकी देहाभिव्यक्तियों में राम का यह भाव रामत्व से, सीता का भाव सीतात्व से और मंथरा का भाव मंथरात्व से उपरंजित होता है और वैसा होते हुए ही वह प्रत्यय में रूपान्तरित होकर सबका होता है—स्वयं राम-सीता के लिए भी उतना ही जितना अभिनेता और दर्शक के लिए। किन्तु इस प्रत्यय की विशेषता यह होती है कि इसमें विषयिता विषय में आत्मेतर हुए बिना अपनी विषयिता में ही प्रत्ययीकृत होती है। एक प्रकार से यहां कह सकते हैं कि इसमें 'मैं' और 'तू' दोनों सर्वनाम-वाच्य नहीं होते। यहां अभिनेता को रामत्व से तदात्म, उसके 'मैं' में अन्त:प्रविष्ट होना होता है और दर्शक या पाठक को उसके 'तू' में सह-अवस्थित होना होता है, जबकि विषय रूप में प्रत्ययीकृत होने पर, जो कि प्रत्ययभाव का मूलधर्म है, 'मैं' भी सर्वनाम और 'वह' स्थानीय होता है। इस प्रकार यहां अभिनवगुप्त की साधारणीकरण की अवधारणा के

---

1. द्रष्टव्य - **अक्षरा** पत्रिका के जनवरी-फरवरी 2008 अंक में हमारा लेख 'काव्य विषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा'।

ठीक विपरीत स्थिति होती है। मुकुंद जी ने यहां एक बुढ़िया के उदाहरण से इस साधारणीकरण को समझना चाहा है। वह ठीक होते हुए भी सम्यक् नहीं है। अभिनेता एक प्रक़ार से वहां वही कर रहा होता है जो किसी घटना और उसके पाठक होने से हम किसी भाव-तत्त्व के साक्षात्कारी और इस प्रकार ब्रह्मानन्द सहोदर भाव के भोक्ता नहीं होते। का वर्णन करने वाला शब्दों के माध्यम से करता है। दोनों घटना का वर्णन या निरूपण करते हैं, अन्तर केवल माध्यम का होता है। अभिनेता का माध्यम मूर्त्त अनकृति होने से अशिक्षित बुढ़िया के लिए अभिनय स्वयं मूल घटना ही हो गया, अन्यों के लिए वह निरूपण का माध्यम होता है। यहां मैं एक अन्य उदाहरण देना चाहूंगा जो बुढ़िया के उदाहरण के समान कल्पित भी नहीं है। एक बार कुछ बच्चे कृष्ण की रासलीला का अभिनय कर रहे थे, हम दर्शक थे। उनमें जो बच्ची राधा का अभिनय कर रही थी वह अभिनय भी कर रही थी और राधा के रोने का अभिनय करते हुए सचमुच ही रो रही थी, जिसने दर्शकों को भी द्रवित कर दिया। अब, उस बच्ची का सचमुच का रुदन उसके अभिनय में बाधक नहीं बना, उसे यह बोध था कि वह अभिनय कर रही है, किन्तु तब भी वह राधा-भाव से तदात्म थी, जबकि अभिनय में ताटस्थ्य के साथ तादात्म्य साधना होता है। इस प्रकार वह तादात्म्य अभिनव के अर्थ में 'निर्विघ्न तादात्म्य' नहीं था, वह वैसा ही तादात्म्य था जैसा किसी रोते आत्मीय के साथ हम भी रोने लगें। विवाह में किसी लड़की की विदाई पर रोते हुए माता-पिता के साथ वहां उपस्थित कुछ दूसरे लोग भी रोने लगते हैं और वह रोदन माता-पिता के लिए भी सुखकारक दुःख होता है और दूसरो के लिए भी, क्योंकि वह दुःख दुःख होने के साथ मूल्यवान् भी होता है। हम किसी आत्मीय की मृत्यु के दुःख में दुःखी होते हैं और दुःखी होना और दुःखी रहना चाहते भी हैं। काव्य में कल्पित पात्रों के दुःख से तादात्म्य भी इसी प्रकार का होता है, तथा कथित ब्रह्मानंद सहोदर प्रकार का नहीं। भवभूति के राम द्वारा सीता को वन भेजने पर जो राम के साथ हम रोते हैं या प्रेमचंद की निर्मला की दुःखी दारुणता को जो हम भोगते हैं वह इसलिए 'आनन्दप्रद' नहीं होता कि उसमें हम तटस्थ होते और भाव के निर्विघ्न (निरुपाधिक) रूप का साक्षात्कार करते हैं बल्कि इसलिए कि वह दुःख मूल्यवान् होता है। इस प्रकार वह दुःख ही होता है, 'आनन्द' नहीं, किन्तु हम उसे बनाये रखना चाहते हैं और अधिकाधिक गहराई से भोगना चाहते हैं क्योंकि वह मूल्यवान होता है और ठीक उसी प्रकार मूल्यवान् होता है जिस प्रकार स्वयं राम और निर्मला के लिए मूल्यवान् होता है।

राम के दुःख की, स्वयं राम के लिए भी, कवि और उसके पाठक या दर्शक के समान ही मूल्यवत्ता इसलिए है क्योंकि इस प्रकार का मानवीय दुःख जैव आवेग नहीं होता बल्कि मनोमय भाव होता है जो विचार और विवेक से संश्लिष्ट होता है। इस क्रम में पंडितराज जगन्नाथ के 'चिदावरणभंग' की बात की अयुक्तता भी देखी जा

सकती है कि यह कैसे किसी वास्तवता से विरहित वैदान्तिक कल्पना मात्र है। चिदावरणभंग या तो ज्ञानमात्र में होता है, सामने पड़े मेज़ को मेज़ देखने सहित, नहीं तो काव्य-पाठ में भी नहीं होता।

किन्तु जहां भाव किसी व्यक्ति से, जैसे राम या रावण से, सम्बद्ध नहीं होकर, स्वयं में ही निरूप्य होता है, जैसे संगीत या छोटी कविता में, वहां वह अपने ही तत्त्व में निरूप्य होता है। संगीत तो इसका स्पष्टतम उदाहरण है, जहां स्वर-संयोजन का विषय सीधे भाव ही होते हैं और वाचक शब्द या मूर्त्ति आदि नहीं होने से व्यक्ति या स्थिति का अभिधान नहीं हो सकता। वहां भाव अपनी निरपेक्षता में ही अभिव्यक्ति का विषय होता है और व्यंग्य रूप में वाच्य होता है। किन्तु गीत-काव्य या दोहे आदि में भी बहुत बार भाव अपने स्वरूप में ही निरूप्य होता है, जैसे–

जोगी, मत जा, मत जा, मत जा
पाँव पड़ूं मैं तोरे,
जल-बल भई राख की ढेरी, अपने अंग लगा जा।

पपीहा रे प्यारे, कब को वैर चितार्यो
मैं सूती छीं अपने भवन में
पिऊ पिऊ करत पुकार्यो।

ओ चिर नीरव, मैं सरित विकल,
तेरी समाधि की सिद्धि अकल,
चिरनिद्रा में सपनों का पल,
ले चली लास में लय-गौरव!

यहां शब्दों का शुद्ध व्यंजनात्मक प्रयोग है, इनका अभिधेय यहां पूर्णत: अप्रासंगिक है। किन्तु द्रष्टव्य है कि भाव यहां उच्छ्वसित नहीं होता बल्कि प्रत्यय रूप में चेतना की मनोमय-विज्ञानमय भूमि पर उन्नीत होकर अभिव्यक्ति का विषय बनता है। इस रूप में यह भाव अभिधेय नहीं रहता बल्कि व्यंग्य अर्थों की अनन्त संभावनाओं से गर्भित हो जाता है। मीरा या महादेवी की उपर्युद्धत कविताएं जिन भावों की व्यंजक हैं वे अनेकानेक प्रकार से व्यंग्य हो सकते हैं। इसीसे यह न केवल इस आलोचना का विषय बनता है कि अभिव्यक्ति भाव के लिए सम्यक् है या नहीं बल्कि इस आलोचना का भी कि भावन वास्तव-सत्य–था या कि मात्र आत्म-छल था? यहां कबीर की प्रेम की परिभाषा का उल्लेख स्थाने होगा–

प्रेम पियाला सो पियै, सीस दच्छिना देय,
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय।

तथा

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे,

सब कोउ कहै तुम्हारी नारी, मोको इतै सँदेह रे,
एकमेक ह्वै सेज न सोवैं, तब लग कैसो नेह रे।

यहां दो प्रकार से प्रेम का आदर्श निरूपित है जिसके मानदंड प हमारा भाव प्रमाणीय होता है। यह मानदंड स्वयं भाव का नहीं है, बल्कि प्रत्यय में उन्नीत भाव का है। मूल भाव जैव स्तरीय चेतना की वृत्ति होता है। अवश्य संगीत प्रत्यय को इस व्यापकता में व्यक्त नहीं करता, किन्तु वह भाव का गहनता, उदात्तता, प्राँजलता आदि गुणों में प्रत्ययन करता है और स्वर-ग्राम की उससे सम्यक्ता साधता है।

किन्तु भाव के इन निरपेक्ष या शुद्ध रूपों को भी साधारणीकृत कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि साधारणीकरण की अवधारणा विभाव से अनिवार्यत: बँधी है, जिससे उसे मुक्त कर इसे साधा जाता है। किन्तु वहां वह उससे मुक्त नहीं हो सकती और न उससे उसका मुक्त होना आवश्यक होता है। यहां भवभूति के राम की वेदना को देखना उपयोगी होगा। राम की वेदना अनिवार्यत: राम की ही वेदना है जो उनके विशिष्ट कर्म से प्रतिफलित हुई है, और वह कर्म उनके विशिष्ट चरित्र से प्रतिफलित हुआ है—एक ओर वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और दूसरी ओर अत्यन्त संवेदनशील, और तीसरी ओर सीता के प्रति अत्यन्त प्रेममय। उनके चरित्र के ये तीन पक्ष केवल उनके चरित्र के ही हो सकते थे और इन तीनों पक्षों में वे इन पक्षों के मानदंडों पर अपने को पूरा प्रमाणित देखना चाहते थे। इन मानदंडों के रूप में ये भाव अपनी शुद्धता में लक्षणीय हैं और इस प्रकार लक्षणीय होने से ही ये भगवान राम के लिए संकट उत्पन्न करते हैं, किन्तु इन भावों के आदर्श रूपों के प्रति प्रतिबद्धता और उस पर पूरा उतरने का प्रयत्न ये राम के ही चरित्रगत गुण हैं, जो उस चरित्र से पृथक् नहीं किये जा सकते। इस प्रकार भावों के काव्य या अन्य कलाओं में निरूपण का यह सम्पूर्ण सन्दर्भ इनके भावन से, जो असाधारण होता है, इनके प्रत्यय-रूप से, जो आदर्शात्मक होता है, सम्बद्ध होता है, किसी साधारणीकरण से नहीं।

– यशदेव शल्य

विचार-विमर्श - 2

‘भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद’ की समीक्षा से सम्बद्ध आक्षेप समाधान

जनवरी, 2007 की उन्मीलन पत्रिका में प्रकाशित मेरी उपर्युक्त शीर्षक निर्दिष्ट समीक्षा में समाविष्ट श्रीसच्चिदानन्द मिश्र के ‘न्याय दर्शन में इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद’ इस लेख में प्रतिपादित कुछ विचारों से मैंने असहमति प्रकट की थी। इस पर मिश्र जी ने जुलाई, 2007 की उन्मीलन पत्रिका में ग्रांथिक आधार प्रस्तुत कर मेरे कथन का प्रतिवाद किया है। स्वतन्त्र तात्त्विक चिन्तन के लिए समर्पित उन्मीलन जैसी विद्वाद् मान्य पत्रिका में ग्रांथिक आक्षेप-समाधान करते रहना उचित नहीं प्रतीत होता। तथापि एक सूक्ष्म तार्किक समस्या को प्राचीन नव्य नैयायिकों ने कैसे नये किन्तु अनानुभविक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है, यह प्रदर्शित करने के लिए मैं मिश्र जी के आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि इससे सन्तुष्ट न हो कर मिश्र जी इस पर प्रत्याक्षेप करना चाहें तो इस चर्चा को जारी रखने का निर्णय सम्पादक महोदय पर छोड़ कर उस निर्णय का मैं अनुसरण करूँगा।

प्रथम मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मेरी असहमति मिश्र जी की उक्तियों से ही नहीं गंगेश और उनके व्याख्याकारों की उक्तियों से भी है। गंगेश ने प्रश्न तो सही उठाया है कि यदि अभाव प्रतियोग्यनुयोगि सापेक्षस्वभाव ही हो तो उसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष असम्भव है, तब ‘घटाभाववद्भूतलं’ इस प्रकार का अभावप्रकारक सविकल्पक बोध कैसे हो पायेगा? सविकल्पक बोध निर्विकल्पक सापेक्ष ही होता है, ऐसा न्यायमत है। अभाव की प्रतियोग्यनुयोगिसापेक्षता तत्त्वमीमांसीय है और ज्ञानमीमांसीय भी। जैसे अभाव प्रतियोगी अनुयोगिविरहित नहीं हो सकता वैसे ही उसका ज्ञान भी प्रतियोगी और अनुयोगी के ज्ञान के बिना घटित नहीं हो सकता। इस प्रश्न के उत्तर में गंगेश कहते हैं कि ‘प्रथम, भूतले घटाभावः’ ऐसा अभाव विशेष्यक और भूतलवृत्तित्व प्रकारक ज्ञान होता है और तदनन्तर घटाभाव विशेषणक और भूतल विशेष्यक ‘घटाभाववद् भूतलं’ यह सविकल्पक ज्ञान होता है’, ऐसा मानने पर उक्त आपत्ति का निवारण किया जा सकता है। इस कथन के अन्त में प्रयुक्त गंगेश का वाक्य ‘विशेष्यज्ञानं च न कारणम्’ यह भ्रान्ति पैदा करता है कि विशिष्ट बुद्धि के लिए विशेष्य ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं है। गंगेश का अभिमत यह नहीं है। उनके सही अभिमत को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार रुचिदत्त कहते हैं कि ‘न तु अभावस्य विशेषणतयैव मानमिति तदर्थं’, अर्थात् अभाव विशेष्य के रूप में उक्त बोध में अवगत होने से उसके लिए अभाव का विशेषण के रूप में बोध होना आवश्यक नहीं है, इस कारण अभाव

का निर्विकल्पक बोध न हो सकने से उत्पन्न होने वाली आपत्ति टाली जा सकती है। इस स्पष्टीकरण से मेरे इस कथन की कि 'विशेष्य के विशेष्य के रूप में (विशेषण के रूप में नहीं) ज्ञान के बिना विशेषणयुक्त विशेष्य विषयक सविकल्पक ज्ञान कभी नहीं हो सकता' (क्योंकि यह पूर्वतन विशेष्य ज्ञान-सापेक्ष होता है) पूर्णतया पुष्ट हो जाती है। किसी भी वाक्यार्थभूत विशिष्ट में विशेष्य उद्देश्य होता है और विशेषण विधेय होता है, जो उद्देश्य के बारे में कोई न कोई विधान करता है। उद्देश्य या विशेष्य के बिना विधेय कैसे कोई विधान कर सकता है? गंगेश के उपर्युक्त उत्तर का तात्पर्य यह है कि भूतलवृत्तित्व प्रकारक घटाभावविशेष्यक बुद्धि में घटभाव विशेषण न होने से उसका बोध निर्विकल्पक नहीं होगा, अतः पूर्वोक्त कठिनाई नहीं उत्पन्न होगी।

लेकिन यह समाधान और उसका परवर्ती नैयायिकों द्वारा किया गया समर्थन मुझे संतोषप्रद नहीं प्रतीत होता। मूल प्रश्न 'घटाभाववद् भूतलं' जैसे अभावप्रकारक सविकल्पक बोध से सम्बन्धित है। 'भूतले घटाभावः' और 'घाटाभाववद् भूतलं' ये दोनों बोध एक ही वस्तुस्थिति के ज्ञापक होने से एक के घटित होने से दूसरा घटित न होने पर भी उसका भी विषय जो एक ही वस्तुस्थिति है, ज्ञात होगा ही। अतः कोई व्यावहारिक आशंका दूसरे बोध के घटित होने के सम्बन्ध में उत्पन्न नहीं हो सकती। आशंका तो इस बोध की ज्ञानमीमांसीय उपपत्ति के सम्बन्ध में है, जो सविकल्पक बोध को निर्विकल्पक बोधापेक्षी मानने से उत्पन्न होती है। अतः 'भूतले घटाभावः' ऐसा बोध घटित होने पर भी 'घटाभाववद् भूतलं' यह अभावप्रकारक बोध कैसे घटित हो सकता है, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है।

मेरे सम्बन्ध विषयक कथन की भी पुष्टि गंगेश के निम्न वाक्य से हो जाती है। वाक्य इस प्रकार है—"ननु इन्द्रिय सम्बद्धविशेषणतया अभावो गृह्यते इत्युक्तम्। अतः कथं सः विशेष्य इति चेत्। भूतलविशेषणतया स्वभावप्रत्त्यासत्त्या गृह्यते इत्यर्थः। न तु अभावस्य विशेषणतया भानम्।"

इस वाक्य में गंगेश कहते हैं कि 'भूतले घटाभावः' इस वाक्यार्थ या बोध में घटाभाव विशेष्य होने पर भी उसका 'इन्द्रिय सम्बद्धविशेषणता' रूप सम्बन्ध से ज्ञान हो सकता है, जैसा कि नैयायिक मानते हैं, लेकिन अभाव का विशेषण के रूप में इस वाक्यार्थ में ज्ञान नहीं होता। इस पर से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गंगेश के मतानुसार अभाव का ज्ञान इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता सन्निकर्ष से ही होता है, इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यतासन्निकर्ष से नहीं। यहाँ एक बात स्पष्ट करना अतीव आवश्यक है। इन्द्रिय-सम्बद्ध विशेषणता, यह इन्द्रिय और अभाव का वास्तविक सम्बन्ध है, ज्ञानीय सम्बन्ध नहीं। विषयों के प्रत्यक्षीकरण के लिए अपेक्षित सभी इन्द्रियाविषय-सम्बन्ध वास्तविक ही होते हैं, वे ज्ञानीय या ज्ञानविषय नहीं होते। अभाव जो 'भूतले घटाभावः' इस बोध में विशेष्य बनता है उसका कारण उसकी विशेष्य रूप में प्रतीति है जिस कारण उसकी विशेष्यता ज्ञानीय होती है वास्तविक नहीं। इसी कारण इन्द्रिय-

सम्बद्ध भूतलादि का विशेषण, याने उस पर वृत्तिमान् होने पर भी, अभाव विशेष्य के रूप में उक्त बोध में प्रतीत होता है ऐसा गंगेश कहते हैं। लेकिन गंगेश का उक्त वाक्य भ्रामक सा हो गया है। 'स्वभावप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणतया (अभावो) गृह्यते न तु अभावस्य विशेषणतया भानम्' ऐसे दो परस्पर विरुद्धार्थक वाक्यों का प्रयोग यहाँ गंगेश कर रहे हैं। एक ही अभाव एक ही ज्ञान में विशेष्य और विशेषण इन दोनों रूपों में कैसे ज्ञान विषय हो सकता है? यदि अभाव की वास्तविक विशेष्यता के साथ-साथ उसका विशेष्य रूप से ज्ञान होना गंगेश को अभिप्रेत होता तो वे यह न कहते कि विशेष्य होते हुए भी इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता-सन्निकर्ष से ही अभाव का ज्ञान होता है।

विशेष्यविशेषण-भाव सन्निकर्ष ही नहीं बनता है यह मिश्र जी का कथन विस्मयकारक है। विशेष्यविशेषण भाव का अर्थ विशेष्यतानिरूपित विशेषणता या विशेषणतानिरूपित विशेष्यता यह होता है। क्या ये दोनों सम्बन्ध नहीं होते या हो सकते? भूतलवृत्तिविशेष्यतानिरूपितविशेषणता घटाभाव में है। अत: स्वनिष्ठ विशेष्यतानिरूपितविशेषणतासम्बन्ध से भूतल घटाभाव से सम्बद्ध है, ऐसा समझा जा ही सकता है। ऐसी ही बात घटाभाव के भूतल के साथ सम्बन्ध के बारे में कही जा सकती है। क्या केवल विशेषणता या विशेष्यता सम्बन्ध हो सकते हैं? विशेषणता विशेष्यता से ही निरूपित होगी और विशेष्यता भी विशेषणता से ही निरूपित होगी। केवल विशेषणता, विशेष्यता पदों का प्रयोग किया जाने पर भी विशेष्यता और विशेषणता का विशेषणतानिरूपितत्व एवं विशेष्यतानिरूपितत्व अध्याहृत होगा ही।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि गंगेश ने समस्या तो सही-सही उपस्थित की है लेकिन उसका सही समाधान नहीं प्रस्तुत किया है। तो फिर इस समस्या का सही समाधान क्या होगा? इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव इस प्रकार है—अभाव एक प्रतियोगी सम्बद्ध पदार्थ है। उसे प्रतियोगिता या प्रतियोगिनिरूपकतासम्बन्ध से प्रतियोगिविशिष्ट पदार्थ भी कह सकते हैं। अत: अभावबुद्धि सदैव विशिष्टबुद्धि ही होगी। इस कारण 'घटाभाववद् भूतलं' जैसी बुद्धि विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि होगी जिसका विषय-विशेषण के रूप में घटविशिष्ट अभाव होगा। इस विशिष्ट के बोध के लिए घटत्व का ही निर्विकल्पक बोध अपेक्षित होगा, क्योंकि घटत्व इस बोध की घटवृत्ति विशेषणता का न्यायपरिभाषानुसार अवच्छेदक है।

अननुगत लक्षणों का अनुगम करने के लिए नव्य नैयायिक कैसे लम्बे-चौड़े विविध सम्प्रत्ययशृंखलाबद्ध सम्बन्धों की कल्पना करते हैं, यह यदि मिश्र जी जानते हों तो वे विशेष्यविशेषणभाव के सम्बन्ध होने पर किंचित् भी असहमति नहीं जतायेंगे और विशेष्यता तथा विशेषणता को परस्पर निरूप्यनिरूपक भावापन्न समझते हुए उन्हें ही विशेष्यविशेषण भाव रूप सम्बन्ध मनने में वे आनाकानी नहीं करेंगे।

नारायण शास्त्री द्राविड़
ऑकलैंड (न्यूज़ीलैंड)

पुस्तक-समीक्षा

समाज : दार्शनिक परिशीलन, लेखक यशदेव शल्य, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007, पृ.सं. 211, मूल्य 250/-

समाज और उसके कतिपय संरचनात्मक घटकों का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाली यह एक उत्कृष्ट रचना है। यह सन्दर्भित अवधारणाओं को चेतना के विभिन्न स्तरों पर होने वाले अर्थोन्मेष के रूप में देखते हुए न केवल उनकी प्रामाणिकता पर विचार करती है वरन् साथ ही यह भी स्पष्ट करती है कि चेतना की यह सक्रियता मनुष्य के लिए प्रेयस् के संसार से श्रेयस् की ओर गमन का मार्ग प्रशस्त करने वाली है। इसीलिए नैतिकता और धर्म जैसे तत्त्व न तो समाज की पारिस्थितिक उपज हैं और न उसके विकास के मार्ग की बाधाएँ हैं। किन्तु यह सब समझने के लिए कुछ विस्तार से इस रचना की मुख्य बातों को हमें जानना होगा।

प्रकट ही किसी दार्शनिक चिन्तन-अनुशीलन की विषय-वस्तु सीधे कोई वस्तु, वस्तु-संघटना या वस्तु-स्थिति नहीं होती, क्योंकि उसकी सक्रियता का क्षेत्र प्रत्यय-संसार होता है। यह प्रत्यय-संसार चेतना-परिवेष्टित होता है, जबकि वस्तु-संसार चेतना का परिसीमन करता हुआ सा उससे पृथक् रूपेण परे अवस्थित रहता है। तथापि जब युक्तियों के पहियों पर सवार दार्शनिक चिन्तन प्रत्यय-भूमि पर आगे बढ़ता है तो अवश्य उसके परिभ्रमण-क्रम में चित्त-बाह्य वस्तु-संसार भी दृष्टि-ग्राह्य होता है और फलत: वहाँ भी कुछ उसी तरह के भ्रमों की गुंजाइश बनती है जो चलती ट्रेन की खिड़की के बाहर देखने से पैदा होते हैं। सटीक चिन्तन-क्रम में भी वस्तुविषयक और चेतना विषयक ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो सही न जान पड़ें। जब शल्य जी कहते हैं कि 'सीधे वस्तुस्थिति के अभिसाम्मुख्य में' किया गया उनका चिन्तन 'व्यक्तियों का समाज के रूप में धारण करने वाली चेतना की वृत्तियों का अवलोकन-परिशीलन है' तो लगता है कि हमें कुछ ऐसी स्थापनाओं के लिए तैयार रहना चाहिए जिनकी स्वीकार्यता सहज न हो।

शल्य जी का समाज विषयक परिशीलन स्वभावत: ही समाज के हमारे प्रत्ययात्मक अवगमन को एक चैत्त संरचना के रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुत: किसी भी मनुष्यमूलक वस्तुस्थिति को चेतना की सोद्देश्य व्यवस्थामूलक संरचना से पृथक् कर सही रूप में नहीं समझा जा सकता। समाजविज्ञानियों की राय अवश्य इससे भिन्न है, क्योंकि मनुष्यमूलक वस्तुस्थितियों को भी प्राकृतिक वस्तुस्थितियों के क्रम में ही अपचित करने के कारण वे उन्हें एक बृहत्तर वैश्विक कारण-व्यवस्था के

आधार से समझने का प्रयास करते हैं। प्रकट ही यह दो दृष्टिकोणों—वैज्ञानिक और दार्शनिक—के एक आधारभूत भेद को स्पष्ट करता है और यह सर्वथा सम्भव है कि वे एक ही वास्तविकता सम्बन्धी दृष्टिभेद मात्र हों। किन्तु जहाँ तक शल्य जी के चिन्तन का सवाल है, उनके द्वारा 'चित्त वृत्तियों के अवलोकन-परिशीलन' को 'सीधे वस्तुस्थिति के अभिसाम्मुख्य' से जोड़ने से स्पष्ट है कि यहाँ वे जिस 'वस्तुस्थिति' की बात कर रहे हैं वह 'समाज' का प्रत्ययात्मक चित्त-रूप ही है न कि समाजविज्ञानी द्वारा मान्य चित्त-बाह्य वस्तुस्थिति। यह उनके द्वारा समाज और संस्कृति के अधिष्ठान के सम्बन्ध में दी गई युक्ति से भी स्पष्ट है। संक्षेप में उनकी युक्ति इस तरह है—व्यक्ति और समाज मनुष्यमूलक सत्तायें हैं और 'मनुष्य' पद चित्त के आत्म-चेतन स्तर, चेतना की आत्मोन्मुखता, का वाचक है, जिसके दो रूप हैं—चैत्त अवस्थाओं का संवेद्य आत्म-चेतन अस्तित्व रूप (यथा दुःखानुभूति) तथा चैत्त अवस्थाओं का प्रत्ययवत् या आकारगत अस्तित्व रूप (यथा दुःखानुभूति का आकारवत् ज्ञान—'यह दुःख है')। प्रथम 'विषयि' रूप 'व्यक्ति' का है, जबकि दूसरा 'विषय' रूप 'अवैयक्तिक सामान्यता' का है, और दोनों चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व-रूप हैं। इस द्वितीय अस्तित्व रूप (सामान्यता) में समाज और संस्कृति अधिष्ठित होती हैं।

इस तरह शल्य जी के मतानुसार समाज और संस्कृति का मूल व्यक्तियों में नहीं होकर चेतना के उस 'अतिवैयक्तिक' स्तर में है जो व्यक्ति के साथ उद्भूत होकर भी उससे स्वतन्त्र होता है। परन्तु यहाँ एक दिक्कत है। आत्म-प्रत्यय की यह 'सामान्य विषयता' शुद्धतः सामान्य सामाजिकतापरक होगी, जबकि वास्तविकता में समाज और संस्कृतियाँ विशिष्ट ही होती हैं। इसके समाधान-हेतु शल्य जी का तर्क है कि 'विषय' स्वरूपतः प्ररिप्रेक्ष्यात्मक होने से अनेक प्रेक्षक विषयियों को पूर्वमान्य करता है। अर्थात् वास्तव में समाज और संस्कृति का निर्माण व्यक्तियों के बीच विशेष विचारात्मक व्यवस्थाओं व विशिष्ट भावनात्मक सम्बन्धों के आधार से होता है, जिनकी अभिव्यक्ति उनके बीच होने वाले सम्प्रेषण और उनके व्यवहार में होती है। किन्तु वास्तविक समाज और संस्कृति विषयक शल्य जी का यह अभिमत 'व्यक्ति' को चेतना की प्राथमिक अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित करता प्रतीत होता है। (वस्तुतः 'व्यक्ति' पद का धात्वर्थ भी इसी ओर संकेत करता है, जैसे भगवद्गीता 10.14 में 'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः') इस दृष्टि से चेतना के अतिवैयक्तिक रूप को द्वितीयक स्तर का होना चाहिए जो व्यक्ति-रूप आश्रय की ही एक भिन्न कोटिक अभिव्यक्ति मात्र है, न कि उससे अलग एक अन्य अस्तित्व। यहाँ द्रष्टव्य है कि 'व्यक्ति' का अर्थ देहाधिष्ठ चेतना नहीं है। वैसे भी कोई व्यक्ति स्वयं अपनी पहचान के लिए अपनी देह पर निर्भर नहीं करता, बल्कि अपनी चैत्त क्रियाओं

के माध्यम से उसे अपना बनाता है जिससे उसका आरम्भिक रूप ही 'अन्न (रस) मय कोष' का बनता है (एक वैदिक रूपक के अनुसार इन्द्रियाँ ही अपने लिए उपयुक्त (मानव शरीर रूपी) आयतन का चयन करती हैं।) वस्तुत: अधिष्ठान के संदर्भ में व्यक्ति अपनी पहचान के लिए अपने देहाधिष्ठान पर निर्भर नहीं रहता, यहाँ तक कि उसे बदल भी सकता है (जैसे परकाय-प्रवेश की सम्भव स्थिति में या किन्हीं वास्तविक स्वप्न-बिम्बों में), किसी भी समाज (और संस्कृति) की पहचान अनिवार्यत: उसके विशिष्ट 'अतिवैयक्तिक' चेतना रूपी अधिष्ठान से ही होती है। इस दृष्टि से, जहाँ एक ओर व्यक्ति-रूप में अस्तित्वगत स्वतन्त्रता 'असीम' है, वहीं समाज व संस्कृति में स्वतन्त्रता स्वरूपत: सीमित रहती है। प्रथम स्थिति में यह आद्य सर्जनमूलक 'संकल्प' है, जबकि द्वितीय स्थिति में वह उस आद्य संकल्प का एक 'विकल्प' मात्र है।

अब, यद्यपि अधिष्ठान की दृष्टि से समाज और संस्कृति समाधिष्ठित हैं, वे समस्तरीय नहीं हैं, क्योंकि जैसा कि शल्य जी कहते हैं, संस्कृति समाज की आत्मा है। वह सामाजिक चेतना में समायी वह जीवन-दृष्टि है जो सत्य और मूल्य-विषयक परम अर्थ (आदर्श) के सहारे समाज-व्यवस्था को प्रयोजनमूलक बनाती है और गतिशीलता प्रदान करती है। वह एक ओर तो सामाजिक परम्परा और इतिहास से निर्धारित होती है तो दूसरी ओर अधिक मूलगामी रूप में वह सृजनात्मक चेतना के आत्म-चरितार्थन की प्रक्रिया भी है। इस संदर्भ में वे श्री अरविन्द के इस प्रतिपादन का उल्लेख करते हैं कि "संस्कृति मनोमय जीवन का स्वयं उसके अपने ही लिए अनुशीलन है।" वास्तव में वह समाज का चित्ताधिष्ठान-रूप सृजनमूल मनोमय जीवन है। यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि श्री अरविन्द की इस धारणा और शल्य जी के समाज व संस्कृति के समान अधिष्ठान वाले मत के बीच सम्बन्ध का क्या रूप हो सकता है। सम्भवत: इसका संदर्भ वह आधार प्रतीक या आत्म-प्रतिमा है जिसके माध्यम से संस्कृति अपने को चरितार्थ करती है, अर्थात् अपने स्वरूप का आत्म-बोधन करती है,जिससे व्यक्तियों व संस्कृतियों को इनका अपना विशिष्ट चरित्र मिलता है, तथा जो एक अलक्षित अभियोजक और सार्थकता के मानदण्ड के रूप में उनकी जीवन-शैली का निर्माण तथा क्रिया-कलापों को आकलित करता है। उदाहरणार्थ शल्य जी के अनुसार, भारतीय संस्कृति का आधार प्रतीक 'मोक्ष' है जो उन अवसरों पर प्रकट होता है जब भारतीय समाज के व्यक्ति किसी आघात से आध्यात्मिक तौर पर संवेदनशील होते हैं। तब स्पष्ट ही समाज में समय-समय पर उत्पन्न होने वाले विरोधी विचार, भाव या प्रवृत्तियाँ केवल तभी संस्कृति के लिए अपकारक होते हैं जब वे उसकी आधार-प्रतिमा या व्यवस्था को ही ध्वस्त कर दें।

सामाजिक मनोमय चेतना के रूप में संस्कृति का एक अनिवार्य कालिक आयाम 'परम्परा' के रूप में होता है जो मानव-इतिहास-बोध का आधार है। "इसमें न तो अतीत नि:शेषत: विगत होता है और न ही भविष्य पूर्णत: अनागत, बल्कि प्रलम्बित वर्तमान में समाहित हुए बिना ही ये अपने-अपने स्थानों में अवगत होते हैं।" स्मृति-विषय के रूप में इसी अतीत का वह अंश इतिहास का विषय बनता है जिसे समाज अपने मनोमय जीवन के लिए संग्रहणीय मानता है। वस्तुत: यह सामाजिक चेतना का घटित होने वाला स्वरूप है। इतिहास-लेखन इसी घटना रूप का आकलन करता है। इसकी परिधि में भाषा, छन्द, नृत्य, गीत, मूर्त्ति, चित्र, शिल्प आदि आ जाते हैं, क्योंकि ये सामाजिक आत्म-चेतना के विषयकृत रूप की प्रस्तुतियाँ हैं। इस तरह इतिहास सांस्कृतिक आधार-प्रतीक या आत्म-प्रतिमा के साक्षात्कार द्वारा उसके आत्म-चरितार्थन की प्रक्रिया को समझने की सामाजिक चेतना की ही एक विधा है।

मनोमय चेतना के ही स्तर पर भाषा का भी आविर्भाव होता है। सहज प्रवृत्तिमूलक अन्नमय और प्राणमय चेतना जगद्भावमूलक होती है, जबकि जगत् के प्रति अवगमनमूलक चेतना के स्तर पर जगद्भाव का निष्कासन होता है। यहाँ शल्य जी द्वारा जिसे 'जगद्भाव का निष्कासन' कहा गया है, वह सम्भवत: जगत् के स्थूल भाव का सूक्ष्मरूपेण रूपान्तरण मात्र है (जैसा कि वह कांटवादी विचार में अन्तत: प्रस्तुत होता है), क्योंकि अन्यथा मनोमय चेतना के स्तर पर 'जगत् के प्रति अवगमनमूलक चेतना' की कोई सार्थकता नज़र नहीं आती। चेतना के इसी बिन्दु पर उनके द्वारा अध्यवसायात्मक बुद्धि और भाषा का उत्कर्ष मानने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, वस्तु-तत्त्व के अवगमन में उसके कथनात्मक निर्देश से आरम्भ कर क्रमश: वस्तु-निरूपणात्मक शब्दांकन और वस्तु-लक्षणात्मक निदर्शन के भाषायी उपक्रम में वस्तुत: हम वस्तु-तत्त्व में अधिक गहरे पैठते चले जाते हैं। इस उपक्रम में हम वस्तु से नहीं, चित्त से तादात्म्य साधते हैं और इसीलिए वस्तुवाचक पद अधिकांशत: जीवन और जगत्-विषयक व्यापकतर सांस्कृतिक दृष्टि से अनुविद्ध होते हैं। इससे भाषा का अनिवार्यत: सामान्यवाची होना सिद्ध होता है। भाषा के इसी स्वभाव के कारण अनिर्वाच्य और अनभिलाप्य भी शब्द-प्रतीकों द्वारा ही निर्दिष्ट होता है। अब, चूँकि मनुष्य भाषा-भाषी प्राणी है और भाषा (शल्य जी के अनुसार) मूलत: सामान्यवाची है, शल्य जी इसे मनुष्य की सामाजिकता सम्बन्धी अपने इस अभिमत के पक्ष में एक युक्ति मानते हैं कि मनुष्य की चेतना विशेषपरक न होकर सामान्यपरक होती है।[1] किन्तु यह युक्ति पर्याप्तत:

---

1. पृ. 203

पारदर्शी नहीं जान पड़ती, क्योंकि प्रथमत:, चेतना का आरम्भिक स्तर (सहज वृत्त्यात्मक प्राणिक स्तर) ही मूलत: विशेषपरक होता है, और द्वितीयत: भाषा-दर्शन में विशेषपरक अभिधानवादी भाषा-अर्थवाद उतना ही अपराजेय सिद्ध हुआ है जितना कि सामान्यपरक आख्यातवादी भाषा-अर्थवाद।

भाषायी प्रतीकों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में उनकी भागीदारी है। ये अभिव्यक्तियाँ विविध रूपात्मक होती हैं, जिनमें स्तर-क्रम की दिशा मनोमय से विज्ञानमय की ओर होती है। भाषा के समान ही, पर उससे कम सक्षम, चित्र, नृत्य आदि कलाएँ भी संस्कृति में सन्निविष्ट चिन्तनात्मक व सम्प्रेषणात्मक प्रतीक-सृष्टियाँ हैं। पारम्परिक भारतीय भाषा-दर्शन में वाणी का जो क्रम वैखरी से आरम्भ कर मध्यमा और पश्यन्ती से होता हुआ परावाक् तक पहुँचता है, वह वस्तुत: चेतना में अंधकार के आवरणों को क्षीण करते हुए अन्तस्-चेतना की स्वयं-प्रकाश्यता में प्रतिष्ठा है। इसलिए संस्कृति में भाषायी प्रतीकों की भूमिका भी सांस्कृतिक क्रियाओं को क्रमश: अधिकाधिक प्रकाश की ओर ले चलने की है। अपने सम्प्रेषणात्मक रूप में भाषा चेतना के विमर्शात्मक और बौद्धिक स्तर पर सक्रिय होती है। यह वह स्थिति है जब चेतना आत्म-व्यवधान की विधा में अपना विषयकरण करती है और भाषा इस व्यवधान का आश्रय बनती है। इस आश्रय से विषयकृत चित्त सार्वजनीन बन जाता है। फलत: भाषा के माध्यम से होने वाला सम्प्रेषण भी दो या अधिक व्यक्तियों के बीच एक चैत्त घटना न होकर अपना एक पृथक् अतिवैयक्तिक अस्तित्व स्थापित कर लेता है। चित्त के अपने ही स्वरूप का यह अतिक्रमण, जिससे उसकी प्रस्तुति का सामान्यीकरण होता है और जिसकी घाटक भाषा है, स्वयं भाषा को वह आत्म-चेतनता का रूप देती है जो मानव-व्यक्तियों में संक्रमित होकर उन्हें आत्म-चेतन बनाती है। यहाँ शल्य जी की स्थापना वृत्ताकारीय जान पड़ती है। व्यष्टि-चित्त के साहंकारिक आत्म-विषयकरण से हम अत्याहंकारिक अतिवैयक्तिक भाषा तक पहुँचते हैं और फिर सम्प्रेषण में लौट कर व्यक्ति-केन्द्रित आत्म-चेतना तक। सम्भवत: वे कहना चाहेंगे कि भाषा के आधार से प्रकट आत्म-चेतना की स्थिति एक अधिक विस्तारित आत्म-चेतना—आत्मसात् संस्कृति—की स्थिति है, क्योंकि "मानव अपना व्यक्तित्व, अपनी अस्मिता, (इसी) आत्मसाम्मुख्य में प्राप्त करता है।" किन्तु क्या अधिक सही यह कहना नहीं होगा कि मानव-व्यक्ति व्यष्टि-केन्द्रित होकर भी समष्टि-चेतना (ऋत, संस्कृति) का संधारक होता है और चूँकि इस तरह वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक चित्त का भेद व्यक्ति की चेतना के भीतर ही संरचित है, भाषा व समाज को व्यक्ति-केन्द्रित मानना या उसकी प्रतिष्ठा अतिवैयक्तिकता में देखना अनिवार्यत: प्रतिस्पर्धी स्थापनाएँ नहीं हैं।

मनुष्य स्वभावत: प्रतीक-प्रयोगधर्मी प्राणी है। इसका एक आशय यह है कि एक प्रतीक-संस्थान के रूप में "भाषा एक अखण्ड और समग्र चैत्त सत्ता है जो मनुष्य का परिवेश बनाती है और व्यक्तियों को अपने में धारण करती है।" किन्तु इसका एक दूसरा आशय यह भी है कि प्रतीकों और प्रतीक-संस्थानों का उद्‌गम-स्थल आत्म-अतिक्रामी मानव-चित्त ही है। अब, किसी भी स्थिति में मानव-चित्त की स्थिति एक डिब्बे में बंद अन्य डिब्बे जैसी नहीं है। उसका देहाधिष्ठान ही नहीं, प्राणिक, मानसिक व बौद्धिक अधिष्ठान भी अन्तत: उसी में प्रतीकीकरण की विधा में सन्नियोजित हो जाते हैं। प्रतीक-संस्थान के रूप में भाषा और भाषायी अर्थ के रूप में समाज का चैत्त-व्यक्तित्व (संस्कृति) भी मानव-चित्त के अतिक्रमण से बच नहीं सकते। वस्तुत: उसका ऐसा अतिक्रमण ही समाज, भाषा, संस्कृति के क्षेत्रों में गतिशील मानव-विकास की नयी सम्भावनाएँ पैदा करता है जिसका शीर्ष भारतीय दृष्टिकोण से 'मोक्ष' है, जो व्यक्ति-चित्तपरक होकर भी मानव-अस्तित्व की समीकृत संरचना में सारत: उक्त सभी क्षेत्रों को अपने अंदर समेट लेता है। अतएव शल्य जी द्वारा भाषा को 'एक अतिवैयक्तिक चिद्-व्यवस्था' के रूप में, उसके वाच्य के निर्धारण को 'अनिर्धार्य के प्रभा-मण्डल के अन्तर्गत' करने में तथा समाज (सामाजिक चित्त) को सम्प्रेषण सम्बन्धों में 'आधृत' मान लेने पर भी यह स्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि ऐसा वैयक्तिक और अतिवैयक्तिक चित्तभेद के माध्यम से ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों में क्रमश: पूर्ववर्ती कोश निकटतम परवर्ती कोश का प्रतिष्ठान बनता हुआ उसे पुरुषरूपेण अपने भीतर से प्रकट करता है। ये सभी चित्त के कोश हैं किन्तु सक्रिय विकास-क्रम में उनमें परस्पर विच्छेद घटित न होकर व्यष्टिमूलक स्वरूप-संल्लयन होता है। 'चेतना के उच्चतर स्तर निम्नतर स्तर से उद्भूत नहीं होते बल्कि निम्नतर स्तर उच्चतर स्तरों में अपने अस्तित्व का प्रकाशन और अपने स्वरूप और अर्थों का आविर्भाव पाते हैं। परावाक् इसी अर्थ में वैखरीपर्यन्त वाक्-रूपों का स्रोत है।' शल्य जी का यह कथन भाषा के स्वरूप निदर्शन के बारे में सही हो सकता है, किन्तु इसे इसी रूप में पुरुष-विध कोश-संरचना के लिए समझना आसान नहीं है, क्योंकि यहाँ विकासक्रम ठोस व्यष्टि-रूप (पुरुष-विध) अन्नमय से आरम्भ कर अन्त तक अपने आरम्भिक व्यष्टि-रूप को खोता नहीं वरन् उसका विकास क्रमश: अधिक उन्नत रूपों में करता चलता है।

समाज की संरचना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उस व्यवस्था का है जो उसके वर्गों और इकाइयों के बीच अपेक्षित व्यवहार के मानदण्डों को आकार देता है। मानव-क्रिया-कलापों के मानदण्डों के रूप में मान्य मूल्य सामाजिक नैतिकता और न्याय की

अभिधारणाओं में अभिव्यक्ति पाते हैं, जबकि इनके संदर्भ में मानव-चेतना व अस्तित्व का उदात्तीकरण धर्म की अभिधारणा को प्रकट करता है। मूल्य न तो वस्तुनिष्ठ होते हैं और न ही एकान्तत: आकारिक। उन्हें मानव-रुचि या धारणा की अपेक्षा से ग्रहणीय मानना भी ठीक नहीं है। जैव स्तर की संवेग-आवेगमय चेतना से ऊपर उठी उत्क्रमित मानव-चेतना ही मूल्यान्वेषण और मूल्यबोध में समर्थ होती है। इस उच्चतर स्तर पर चेतना संकल्पमय होती है। संकल्प का सम्बन्ध कर्म से है—'चैतन्य का क्रिया में प्रवर्तन और उस पर अधिष्ठातृत्व, यही संकल्प है,' जबकि 'कर्म का तत्त्व अन्यथाकरण में है : जो जैसा है उससे भिन्न कर देना, यही कर्म है।' जीवन के सभी स्तरों व रूपों में चेतना की यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि इसका नियामकत्व जीव के अधीन न होकर बाह्योद्दीपन के अधीन होने पर जीव अपनी क्रिया में स्वतन्त्र नहीं होता। अपने कर्म के ही अन्यथाकरण की सामर्थ्य से मनुष्य स्वतन्त्र होता है। जैव प्रवृत्ति से मुक्त होने की कामना और चेष्टा का स्रोत मनुष्य के लिए अपनी चेतना की आत्मोन्मुखता में है जिसके आधार से मनुष्य सत् और असत्, शिव और अशिव, एष्य और अनेष्य का अन्तर—वस्तुत: आत्म और अनात्म का भेद—समझ कर असत् से सत्, अशिव से शिव, अनेष्य से एष्य की ओर गति करता है। यह गति स्वरूपत: मूल्यान्वेषणपरक है, अर्थात् कर्त्तव्यबोधमूलक होने से नैतिक मूल्यान्वेषणपरक। इस गतिक्रम में चेतना में नैतिकता और आध्यात्मिकता के आयाम उन्मीलित होते हैं। आध्यात्मिकता (धर्म भी) नैतिकता का उच्चतर स्तर है जिसमें अहंकार का दायरा सिमटता है और सार्वभौमता बढ़ती है। नैतिक कर्म तत्त्वत: कर्त्तव्यमूलक होने से उसका साध्य आत्म-साम्मुख्य होता है, न कि उसकी निष्पत्ति, अत: अपनी प्रामाणिकता के लिए भी वह आत्म-निरीक्षण पर निर्भर करता है। इस तरह नैतिक कर्म का स्रोत, साध्य और प्रमाण आत्मा है, वह प्रतीक जिसके माध्यम से नैतिक चेतना परम तत्त्व का साक्षात्कार करती है जो इस प्रतीक का अभिव्यंग्य अर्थ है। इसी प्रतीक को आधार बनाकर वह अपने में अध्युषित अनात्म को पहचानती है। आत्मा से अनात्म के पूर्णत: विविक्त होने की स्थिति ही 'मोक्ष' है, जो आध्यात्मिकता का साध्य है, धर्म-सिद्धि है, तथा उसकी उपलब्धि-हेतु चेतना की गति और चेष्टा 'धर्म-साधना' है। विभिन्न संस्कृतियों में चेतना का यह आत्म-चेतन स्वरूप विविध-प्रकारेण कल्पित हुआ है, तथापि उन सभी में मान्य मूल्यों (पुरुषार्थों) की मंज़िल उन्हें अवबोधित आत्मा के शुद्धतम स्वरूप की संकल्पना ही होती है। नैतिक चेतना की इस स्वरूपगत विशेषता के परिप्रेक्ष्य में शल्य जी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "नैतिकता का संदर्भ समाज नहीं, यद्यपि परोपकार, क्षमा, मैत्री आदि अनिवार्यत: समाज में ही आचरित हो सकते हैं।" मानव-भावनाएँ आत्म-चेतन चेतना द्वारा

मूल्याविष्ट होकर मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को आधार देती हैं और इस तरह स्वयं समाज ही विवेक तथा मूल्यान्वेषण की परम्परा के रूप में एक मूल्यवान् सत्ता बन जाता है।

शल्य जी एक नैतिक प्रत्यय के रूप में 'न्याय' की विशेष चर्चा करते हैं, शायद इसलिए कि वह समाज के व्यवहारमूलक और आदर्शमूलक पक्षों को सहज रूपेण निदर्शित और आकलित करता है। व्यवहार के स्तर पर 'न्याय' को एक नैतिक अवधारणा मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसे समाज के घटकों के बीच परस्पर परोपकारितामूलक व्यवहार के आधार से समझा जा सकता है, जैसे सामाजिक करार-सिद्धान्त के तहत। दूसरी ओर, जीवन की उन्नायक व्यवस्था के रूप में वह जीवन के सत्य का साक्षात्कृत प्रत्यय है, जिसमें सृजनात्मकता और विमर्शमूलता है। यहाँ न्याय की धारणा में नैतिकता का आयाम है, जैसे गांधी जी द्वारा विवेचित ग्राम-स्वराज और सत्याग्रह की धारणाओं में, जो "न्याय को समाज में लाभ-हानियों के समान वितरण की अवधारणा से ऊपर उठा कर समाज-मानव के मनोरोग के निदान के स्तर पर ला देती है।"

समाज की अन्तरात्मा के रूप में संस्कृति जिस तरह 'न्याय' की अवधारणा को एक उन्नत नैतिक-आध्यात्मिक आधार देती है उसी तरह समाज के नियमन-व्यवस्थापन हेतु 'राज्य' की अवधारणा को भी वह एक बाध्यताकारी संगठन के स्तर से ऊपर उठा कर सामाजिक आत्म नियमन की संस्था के रूप में प्रतिष्ठित करने में सक्षम है। जैसा कि शल्य जी कहते हैं, सामाजिक आत्म-नियमन के दो रूप होते हैं—समाज की आत्मा की अपनी स्वरूप-सिद्धि के रूप में सांस्कृकि विकास और सामाजिक परम्पराओं-नियमों का अनुपालन। समाज के एक उपकरण के रूप में राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक बिखराव को रोकने हेतु इसका ध्यान रखे कि समाज के वर्ग और व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं-नियमों का पालन करते हैं। वस्तुत: मनुष्य की स्वाभाविक स्वार्थपरता पर नियन्त्रण रख सामाजिक न्याय की व्यवस्था-हेतु राज्य की आवश्यकता होती है। इस क्रम में राज्य समाज के ऊपर अधिष्ठित होता है। किन्तु यदि वह स्वयं ही अमर्यादित, भ्रष्ट और अत्याचारी हो जाये तो समाज के लिए बड़ी मुसीबत बन जाता है। राज्य की ऐसे अनिष्टकारी और अविवेकी भूमिका की इतिहास में भरमार है। इसे ही ध्यान में रख कर अराज्यवादी विचारकों का मत है कि राज्य का क्रियान्वयन कभी अपने स्वरूप के अनुसार हो ही नहीं सकता। "लोगों पर शासन का परिणाम केवल उनको ठगना और लूटना ही हो सकता है।" आधुनिक प्रजातन्त्रवादी राज्य भी इसके अपवाद नहीं हैं। निरंकुश अधिनायकवादी और मार्क्सवादी-समाजवादी राज्य तो इससे भी एक कदम आगे व्यक्ति और समाज दोनों

को ही आत्म-समर्पण करने हेतु बाध्य करते हैं। अत: ऐसा समझना काफी हद तक सही है कि राज्यविहीन समाज की स्थिति केवल उसी समाज में सम्भव है, "जिसमें अनुशासन उसका स्वभाव बन गया हो।" गांधी जी के ग्राम-स्वराज में इसी तरह की कल्पना की गई है। मूल बात समाज को वैयक्तिक स्वार्थ के अतिरेक और वैयक्तिक-वर्गगत सामर्थ्य-भेद के परिणामों से बचाना है, विशेषकर आज की स्थिति में, जब उद्योगवादी-यन्त्रवादी व्यवस्था में न अराज्य सम्भव है और न व्यक्ति-स्वातन्त्र्य। यह व्यवस्था भोगाकांक्षा और अर्थ-लोभ की जनक है और इसलिए निरंकुशता की स्थिति में यह समाज के लिए विघटनकारी है। "समाज का आधार श्रेयस् और धर्म को नहीं रख कर केवल अर्थ को रखने पर समाज वास्तव में कुछ समर्थ व्यक्तियों के हाथों एक उपकरण ही बन सकता है," जिसका उपयोग वे अपने लाभ तथा शेष व्यक्तियों का अपनी इच्छानुसार नियोजन के लिए कर सकते हैं। गांधी जी का ग्राम-स्वराज राज्य-सम्बन्धी ऐसी आसुरी परिणति का निषेधक सिद्धान्त है। उसमें उद्योगवाद-यन्त्रवाद का निषेध इसी दृष्टि से है क्योंकि वे भोगाकांक्षा हेतु आर्थिक समृद्धि को बढ़ाते हुए वास्तव में "जीवन के सौरस्य और सामरस्य को समाप्त कर देते हैं।"

किन्तु, जैसा कि शल्य जी कहते हैं, इस गांधीवादी मत की भी अपनी कठिनाइयाँ हैं। लगता है कि इन कठिनाइयों तथा उनके सम्भव समाधान को हमें 'धर्म' की भारतीय धारणा के आधार से समझना चाहिए जो ऐहिक और अनैहिक को मानव-चेतना की संरचनात्मक समंजसता में सूत्रबद्ध करता है, जिससे कि लोकाभ्युदय और लोकोत्तर निश्रेयस् साथ-साथ सम्पन्न हो सकें। क्या 'प्रेयस्' और 'श्रेयस्' का स्वस्थ समन्वय व्यावहारिक है? कदाचित् गांधी के ग्राम-स्वराज की धारणा को ऐसी व्यावहारिकता का एक प्रयोग तो अवश्य माना जा सकता है। शल्य जी ने 'धर्म' की विवेचना विशेष कर समाज के संदर्भ में की है। उनके अनुसार, धर्म-साधना और सिद्धि यद्यपि वैयक्तिक स्तर पर चेतना का विलक्षण स्फुरण होता है तथापि उसे आकार देने वाले प्रतीक उसे संस्कृति से मिलते हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से धर्म सम्बन्धित समाज में स्थापित हो जाता है और इसलिए विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं वाले समाजों में धर्म का रूप भिन्नता लिए हो जाता है। फिर, जब धर्म के प्रतीक एक तत्त्वमीमांसा, एक उपासना-विधि तथा एक आचार-व्यवस्था का रूप लेते हैं, वे एक सामाजिक संगठन का आधार बनते हैं। इस तरह सामाजिकता का एक घटक होकर भी धर्म सामाजिकता को अपने एक घटक के रूप में पूर्वकल्पित करता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि "समाज अपने अस्तित्व में प्रतिष्ठित रहने के लिए और अपने प्रेयस् और श्रेयस् के लिए एक पराशक्ति के वरदहस्त की अपेक्षा करता है।"

अत: आश्चर्य नहीं कि अन्तत: धर्म जीवन और प्रामाणिकता को उसकी समग्रता में आवेष्टित करने वाला तन्त्र बन कर उभरता है।

अन्त में, शल्य जी ने समाज के स्थितिकारक तत्त्वों के अतिरिक्त समाजिक परिवर्तन के कारकों पर भी ध्यान दिया है। सामाजिक परिवर्तन सदैव समाज के लिए विकासमूलक या अभ्युदयकारी ही नहीं होते। कई अवसरों पर इस सम्बन्ध में कोई निर्णय ले पाना भी कठिन होता है कि परिवर्तन अभ्युदयकारी है या पतनकारी, क्योंकि "समाज में परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन के अर्थ में, कोई एकरूप प्रक्रिया नहीं होती।" जैसे पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ-साथ तत्त्व-चिन्तन, वैज्ञानिक अनुसंधान, संगीत-शैलियों में भी परिवर्तन हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरी ओर, सामाजिक विघटन या सामाजिक उज्जीवन समाज को व्यक्ति के समान ही पर्याप्त व्यापक रूप से प्रभावित करता है। समाज की राजनीति, प्रशासन, शिक्षा, नैतिकता, दार्शनिक और कलात्मक सर्जन तथा इनसे सम्बन्धित संस्थाएँ सभी इसके प्रभाव के दायरे में आते हैं। इसीलिए सामाजिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में उनकी वांछनीयता का प्रश्न एक अहम प्रश्न होता है। आधुनिक भारत में यन्त्र-उद्योग-विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से समाज में जो आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं उनकी वांछनीयता का प्रश्न आज भारतीय मानस में गहन चिन्ता और चिन्तन का विषय बना हुआ है। शल्य जी की शैली में कहें तो यह परिवर्तन किसी चेतन संकल्प की उपज न होकर किन्हीं ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप 'स्वत:' हुआ है, यह 'जड़ता' का ही उदात्त उद्घोष है, पर इसने मनुष्य की जैव-लालसा को लोभ की सीमा तक बढ़ा कर उसके 'संकल्प' को उस 'स्वत:' के प्रति समर्पित कर दिया है। परिवर्तन की यह गति चेतना की न होकर स्वयं जड़ता की गति है, जो चेतना के आत्म-साम्मुख्य की सम्भावना को धूमिल करती है। यही स्थिति आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति, जिसे 'आधुनिकता' के नाम से जाना जाता है, की है जो उपभोगवाद और वैज्ञानिक-प्राकृतिक युक्तिवाद का पक्षधर होने के साथ-साथ सामाजिक न्याय और मानव समानता के मानववादी आदर्शों के प्रति समर्पित होने का दावा करती है। किन्तु उसमें वास्तविकता और आदर्श के बीच वैसा ही अन्तर्विरोध है जैसा धर्म के धर्मान्धिता में परिणत होने से होता है। इसीलिए भारत जैसे प्राचीन संस्कृतियों वाले देशों में उसे 'श्रेष्ठता' का मानदण्ड मान लिए जाने को लेकर गहरा संदेह है। वस्तुत: भारत की अपनी सुदीर्घकालीन सांस्कृतिक परम्परा में 'श्रेष्ठता' के अपने मानदण्ड हैं और तदनुकूल मानववाद की अपनी व्याख्या है। आधुनिक भारतीय समाज में 'आधुनिकता' की लहर के फलस्वरूप भौतिकता के प्रति जो रुझान देखा जा रहा है वह अवश्य भारत की अपनी सांस्कृतिक परम्परा के आध्यात्मिक रुझान के विपरीत है। गांधी जी के ग्राम-स्वराज

की धारणा को इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक-सामाजिक बिखराव को रोकने और साथ ही सामाजिक न्याय और समानता के आदर्शों को आध्यात्मिकता के उन्नत स्तर पर प्रतिष्ठित करने का एक भारतीय विकल्प कहा जा सकता है।

संक्षेप में, शल्य जी का दार्शनिक परिशीलन सिद्धान्त की ऊँचाइयों पर अवस्थित होकर भी जिस तरह सामाजिक वास्तविकता की गहराइयों तक छानबीन करने में सफल हुआ है वह उनकी वैचारिक प्रौढ़ता को प्रकट करता है। किसी चिन्तन का आधुनिक होना उससे सहज अपेक्षित होना चाहिए, किन्तु हमारे देश में 'आधुनिकता' पाश्चात्य चिन्तन का ही लक्षण माना जाता है, या फिर उसके अनुकरण का। शल्य जी का चिन्तन इसका एक विलक्षण अपवाद है। उनका चिन्तन भारतीय आधुनिकता का निदर्श प्रस्तुत करता है।

राजेन्द्र प्रसाद पांडेय

20/293, सुन्दर नगर,
महादेव घाट रोड,
रायपुर 492013

पुस्तक-समीक्षा-2

एंसेस्ट्रल वायसेज़ : लेखक, रमेशचन्द्र शाह, प्रथम प्रकाशन, टमेकेस अकादमी, लंडन, 2001, प्रथम भारतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, 2006, पृ.सं. 82, मूल्य 195

रमेशचन्द्र शाह की पुस्तक **एंसेस्ट्रल वायसेज़ — रिफ्लेक्शंस ऑन वैदिक, क्लॉसिकल एण्ड भक्ति पोएट्री** विदेश में दिये गए उनके व्याख्यानों का पुस्तकाकार रूप है। यह पुरखों की प्रज्ञा और उनके तर्कातीत रहस्यदर्शन का प्रबुद्ध भारतीयेतर समाज के सम्मुख एक आख्यान है। सी.जी. जुंग के हवाले से शाह जी यह स्वीकार करते हुए लगते हैं कि निरन्तर पूर्णप्राज्ञता की ओर अग्रसर होते जाना मनुष्य की नियति है। इसी में मानव-संस्कृति का निर्माण होता रहा है। इस निर्माण की कुंजी मनुष्य की रचनात्मकता है। रचनात्मकता वह प्रक्रिया है जो मनुष्य को पाप से ऊपर उठा कर उदात्त बनाती रही है। शाह जी ने इस पुस्तक में इस मूलभूत मान्यता का अनुसरण करते हुए संस्कृति के इतिहास की एक रूपरेखा भी प्रस्तुत की है। मैंने अपने एक लेख[1] तथा एक पुस्तक[2] में ऐतरेय महीदास का हवाला दिया है। ऐतरेय ने न केवल संस्कृति को मनुष्य के द्वारा अपने आप को निरन्तर परिष्कृत बनाते जाने की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है, उन्होंने यह भी कहा है कि कविता या कला मनुष्य को पाप से बचाती है, वह बुराई से उसकी रक्षा के लिए आवरण बन जाती है। यही नहीं, छन्दस् या कविता मनुष्य को मृत्यु से बचा कर अमरत्व भी देती है—

> **पुरुषस्य पापसम्बन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छन्द इत्युच्यते। तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते छादयन्ति हि वा एवं छन्दांसि पापात् कर्मण:** (ऐ.आ. 2/5)। **अथवा चीयमानाग्निसन्तापस्याच्छादकत्वाच्छन्द:। तच्च तैत्तिरीया आमनन्ति—प्रजापतिरग्निमचिनुत, स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।** (तैत्ति.सं. 5/6/6) **यद् वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्द:। तदपि छान्दोग्योपनिषद्याम्नातं—देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन् यदेभिरच्छादयं-स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।** (छा.उ. 14/2)। (ऋग्वेद, सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933, प्रथम खण्ड, पृ. 32)

शाह यह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति के मूलाधारों का निर्माण दर्शन प्रस्थानों के व्यवस्थापन के पहले इस देश के प्राचीन कवि कर चुके थे। वे जिस परम्परा की बात कर रहे हैं उसमें कवि, ऋषि, सन्त और रहस्यदर्शी को एक माना गया है। हमारे

1-2 द्रष्टव्य, नाट्यम् 52 में प्रकाशित 'ऐतरेय महीदास की कलादृष्टि' शीर्षक मेरा लेख तथा मेरी पुस्तक **भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2006, का पहला अध्याय

देश में कपिल, कणाद, गौतम आदि दार्शनिक प्रस्थान बनाने वाले विचारकों का विमर्श बाद में आया और इस कवि-ऋषि ने संस्कृति की पीठिका उसके पहले रच दी। इस पीठिका ने अन्य संस्कृतियों से हमें विशिष्ट बना दिया है। यह पुस्तक उसी पीठिका की परिणतियाँ दिखाती है। यह पीठिका वैदिक विश्वबोध के द्वारा बनती है।

शाह जी की इस वैदिक विश्वबोध की भावना के द्वारा अनेक शब्द नई आभा में आलोकित हो गये हैं, अनेक परिभाषाओं को उन्होंने उन पर सदियों से लिपटी गर्द को झाड़ कर उन्हें चमका कर प्रस्तुत किया है। ऐसा ही एक शब्द है—साधना। यह शब्द तथाकथित भगवानों, दुकान खोलने वाले कथित योगियों के द्वारा बहुत दूषित किया गया है। शाह जी के अनुसार मनुष्य का स्वयं को रचना साधना है। कविता या कला की सृष्टि भी मनुष्य के द्वारा अपना रचाव ही है। इस रचाव में मनुष्य अपने को परिभाषित और परिमार्जित करता चलता है।

पूरी पुस्तक में सनातन भारतीयता के विश्वबोध की व्याख्या है, जो वेदों में सबसे पहले पूरे प्रकर्ष से उजागर हुआ। पुस्तक की विशेषता यह है कि इस विश्वबोध का सातत्य शाह जी ने रामायण, महाभारत, कालिदास, भारवि, माघ और नैषध की कविता से लगा कर मध्यकालीन सन्तों और भक्तिकाल के कवियों तक में सत्यापित कर दिखाया है। इस अर्थ में यह एक नया और बड़ा काम है। स्वभावत: इसमें बहुत कुछ छूटा है, कुछ तो दिये गए व्याख्यानों की प्रकृति और उनके श्रोताओं की सीमा के कारण, कुछ शाह जी की अपनी समझ के कारण।

पहले अध्याय में शाह जी ने ज़्यादातर अंग्रेज़ी अनुवाद के आधार पर विवेचन किया है। वेदों के मूल अंश सामने नहीं रखे हैं। पणिक्कर का उनका अंग्रेज़ी अनुवाद लड़खड़ाता हुआ लगता है, या भ्रामक भी है। जैसे कि—

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।। (ऋ. 10.71.1)

इसका अनुवाद यह दिया गया है—

Within their hearts they revealed the power of their love. मूल मन्त्र में 'प्रेणा' तृतीयांत पद है, अत: 'गुहा में निहित जो कुछ श्रेष्ठ और अरिप्र (पापरहित) था, वह प्रेम के द्वारा आविर्भूत हुआ' यह अनुवाद बनता है।

अत्रा सखाय: सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि। (ऋ. 10.71.2)

इस अंश का अनुवाद यह उद्धृत है—

Thus friends may recognise each other's friendship

An auspicious seal upon their word is set.

'आ जानते' का अनुवाद May recognise क्यों किया गया है? ऋषि यहाँ निश्चित रूप से जानने और परिपूर्णतया जानने की बात कह रहा है। भद्रैषां

लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि (उनकी वाणी में भद्र लक्ष्मी निहित है) इसका अनुवाद भी An auspicious seal upon their word is set करना कहाँ तक ठीक होगा, यह सुधीजनों के लिए विचार्य है।

दो उद्धरण यह दर्शाने के लिए दिये गए हैं कि विदेशी श्रोतृसमाज के सम्मुख भारतीय अन्त:प्रज्ञा की व्याख्या करना दुष्कर कार्य है, वहाँ हमारी भद्रा लक्ष्मी मुहर बन कर तत्त्व को उन्मीलित करने के स्थान पर मुद्रित कर सकती है। पर शाह जी ने दुष्कर कार्य को यथासम्भव सहज बना कर सही-सही कर दिखाया है। उनके द्वारा उद्धृत वेद मन्त्रों के अनुवादों में चूक हो सकती है, किन्तु शाह जी अपने निष्कर्षों में अचूक हैं। उन्होंने श्री अरविन्द और उनकी व्याख्या का सहारा लेकर अपने को सँभाले रखा है। पारम्परिक भारतीय विश्वबोध की व्याख्या में श्री अरविन्द-दर्शन की अनुगूँज इस पुस्तक में सुनी जा सकती है, पर उसको शाह जी कार्ल जुंग के हवाले से अपने श्रोतृसमाज के लिए अधिक सम्प्रेष्य बना देते हैं। आधुनिक समाज पदार्थ या मैटर को ले कर पूरी तरह भौतिकवादी हो चुका है। शाह जी की पुस्तक आह्वान करती है कि मैटर नहीं मदर—यह पुरातन दृष्टि यहाँ उसकी स्थानापन्न बने (पृ. 19)।

दिक्कत वहाँ आती है जहाँ शाह जी भारतीय परम्परा की मुख्य धारा की बात करते हैं। किसे मुख्य धारा कहा जाए और किसे गौण? शाह जी की व्याख्या गोविन्दचन्द्र पाण्डे, कपिला वात्स्यायन या विद्यानिवास मिश्र की सरणि पर है। यह केन्द्राभिमुखी व्याख्या-पद्धति है। इसमें हाशिये पर छूट गई या हाशिये पर ला कर पटक दी गईं परम्पराएँ छूट जाती हैं, या उन्हें हाशिये पर ही रहने को बाध्य किया जाता है। ये परम्पराएँ प्रतिरोध की, वैज्ञानिक जिज्ञासा की, तन्त्र और तकनीक की हो सकती हैं। शाह जी कहते हैं—

"Mainstream of Indian literature is not characterised by a historical or scientific curiocity about the natural or social reality, its distinctive tone and temper—its very flavour—is determined by the meditation on the highest ends of human life through traditionally recognisable forms." (पृ. 49)

न्याय और वैशेषिक दर्शनों की परम्परा निरन्तर तर्क के कर्कश पथ पर चलती रही। ईसा की पहली सहस्राब्दी में पूरे एक हजार साल तक वैदिक न्याय और बौद्ध दर्शन के बीच निरन्तर बहस जारी रही। गोविन्दचन्द्र पाण्डे, कपिला वात्स्यायन या विद्यानिवास मिश्र तथा शाह जी की दृष्टि से यह सारी बहस हमारी संस्कृति की मुख्य धारा नहीं बनती, यह मानना होगा। पर इस पूरी सहस्राब्दी में यह बहस मुख्यधारा नहीं थी तो मुख्य धारा क्या थी?

वैदिक विश्वबोध जिस समग्र जीवन को विषय बनाता है उसमें आधिभौतिक, आदिदैविक और आध्यात्मिक, ये तीन स्तर हैं। एक के बिना दूसरा सम्भव नहीं। इनमें

से किसे केन्द्राभिमुख कहा जाये, किसे केन्द्रापसृत? क्या भारतीय संस्कृति के प्रवाह में मुख्य और अमुख्य धाराएँ देखने की पद्धति उस विश्वबोध के साथ समंजस है जिसकी व्याख्या यहाँ की जा रही है?

इन प्रश्नों को छोड़ दें तो शाह जी सांस्कृतिक विकास की व्याख्या में सर्वथा निर्भ्रान्त हैं। शाह जी की रस की व्याख्या भी इसी तरह निर्भ्रान्त है। रस पर आधुनिकों ने निरर्थक वितण्डा उठाया है। उनके वाग्जाल को शाह जी का संक्षिप्त विशदीकरण काट देता है। शाह जी रस को अन्ततः कलानुभूति के काल में होने वाले चिदावरणभंग के रूप में भी समझते हैं। यह सभ्यताओं के दायरे तोड़ कर वैश्विक स्तर पर आज भी ग्राह्य है।

यह पुस्तक एक झलक है। बहुत संक्षेप में सर्वेक्षण में सारी परम्परा को समेटने का प्रयास है। कालिदास रघुवंश के आरम्भ में कहते हैं—इस वंश में पहले के सूरियों द्वारा निर्मित वाग्द्वार से वज्र से छेदी मणि में धागे की तरह मेरी गति हो सकेगी। शाह जी ने भी पहले के सूरियों द्वारा निर्मित वाग्द्वार से परम्परा के महाप्रासाद में प्रवेश किया है। इस श्लोक का उनका व्याख्यान भी विचारणीय है। यहाँ वाग्द्वार के तीन अर्थ शाह जी ने किये हैं—वाणी के प्रवेश के लिए बनाया गया द्वार, वाणी के द्वारा बनाया गया द्वार और वाणी से रचा गया द्वार। वे तीनों को समीचीन मान कर कालिदास के मर्म का उद्घाटन करते हैं—breaking through an impenetrable density enabling us to have access to the inaccessible, releasing someone who is imprisoned (पृ. 42)। शाह जी के अलावा शायद ही कोई और इतने उम्दा ढंग से यह सटीक बात कह पाता। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कालिदास के पद्य में पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे कहा गया है, "पहले के वाल्मीकि जैसे कवियों के द्वारा रच दिये गये वाणी के द्वार से मैं कविता के संसार में प्रवेश कर सकूँगा", यही अर्थ वहाँ बैठ पाता है। ऐसे में वाग्द्वार के जो तीन अर्थ शाह जी ने किये, वे व्याकरण की दृष्टि से तो बन जाते हैं पर कालिदास के पद्य की अन्विति करने पर उसमें नहीं अँटते। पर परिणति में शाह जी ने जो व्याख्या दी है वह कालिदास की प्रज्ञा और प्रातिभदर्शन के लिए बहुत ही सटीक बैठती है। महाभारत के हवाले से शाह जी ने इस प्रतिभा को प्रतिस्मृति कहा है।

तथाकथित प्राच्यविद्या या ओरिएंटलिज़्म के विशेषज्ञों पर प्रश्नचिह्न पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सबसे पहले लगाया था। शाह जी भी तथाकथित ओरिएंटल पाण्डित्य पर प्रश्न उठाते हैं। अतीत से लगाकर आज तक भारतीय प्रज्ञा के उन्मेष और विकास को समझने के लिए यह पुस्तक काम की है।

राधावल्लभ त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्राप्ति-स्वीकार

1.	पदार्थतत्त्वनिरूपणम् (रघुनाथशिरोमणी-विरचित)	विश्वंभर पाहि तथा कुसुम जैन कृत हिन्दी भाषा-अनुवाद सहित प्रकाशक-राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, मू. 125/-
2.	तत्त्वसंग्रह-शब्दार्थपरीक्षा (कमलशील की पंजिका पर आधारित हिन्दी-व्याख्या सहित	रमेशचन्द्र शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद प्रकाशक-राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, मू. 200/-
3.	साहित्य का अध्यात्म	नंदकिशोर आचार्य प्रकाशक-सूर्य प्रकाशन, बीकानेर, मू. 200/-
4.	संस्कृति की सभ्यता	नंदकिशोर आचार्य प्रकाशक-वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, मू. 200/-
5.	संस्कृति की सामाजिकी	नंदकिशोर आचार्य प्रकाशक-वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, मू. 130/-
6.	सभ्यता का विकल्प	नंदकिशोर आचार्य प्रकाशक-वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, मू. 130/-
7.	सत्याग्रह की संस्कृति	नंदकिशोर आचार्य प्रकाशक-वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, मू. 160/-
8.	उपनिषद्-सार	संतोष आचार्य प्रकाशक-सर्जना, बीकानेर, मू. 60/-
9.	वाल्लभ वेदान्त	सं. गोस्वामी श्याम मनोहर प्रकाशक-श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माँडवी-कच्छ
10.	प्रस्थानरत्नाकरखंडीया विद्वत्परिचर्चा	प्रकाशक-श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माँडवी-कच्छ
11.	प्रत्यक्षप्रमा विद्वत्संगोष्ठी	प्रकाशक-श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माँडवी-कच्छ
12.	अन्यथाख्यातिवादीया विद्वत्संगोष्ठी	प्रकाशक-श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माँडवी-कच्छ
13.	अवतारवादावली, तृतीयो भाग:	सं. गोस्वामी श्याम मनोहर प्रकाशक-श्रीवल्लभ विद्यापीठ, वैभव कोआपरेटिव सोसाइटी, पूना
14.	न्याय दर्शन में अनुमान	सच्चिदानंद मिश्र प्रकाशक-भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी - मू. 350/-
15.	समसामयिक भारतीय संस्कृति	गोविन्दचन्द्र पांडे प्रकाशक-राका प्रकाशन, इलाहाबाद, मू. 350/-

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	:	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00
3.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
5.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
6.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
7.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00